अनुक्रमणिका 'अमृतपुत्र' पुस्तक की

उत्तर खण्ड

(Please click on chapter name below to read respectative chapter)

उत्तर खण्ड

प्रत्यावर्तन-

अभी किसी पशु के पीछे-से निकल आया हो, इस प्रकार सुभद्र पशु-पक्षियों के मध्य प्रकट हो गया। सुभद्र को लगा कि अभी तो उसने सरिता में माता-पिता की चिता से एक अञ्जलि भस्म विसर्जित करके स्नान किया है। अलकें अभी सूखी नहीं हैं।

पशु-पक्षियोंका समूह प्रसन्न हो गया। सब और समीप सिमट आये।

महाराज रेवत अपनी कन्या रेवती के लिए योग्य वर पूछने ब्रह्मलोक गये। कुछ क्षण वहाँ रुकना पड़ा। इतने में पृथ्वी पर सतयुग के स्थान पर द्वापरान्त आ गया था।[1] इससे ठीक उलटा हुआ यहाँ। सुभद्र ब्रह्मलोक सहित दूसरे प्राय: सब लोकों में भटक आया और पृथ्वी का केवल एक क्षण बीता था। पुराणों के विद्वानों को बहुत अद्भुत लगेगा।

सुभद्र नहीं - भद्रसेन का मयूर-मुकुटी सखा क्या कम अद्भुत

---

[1] पूरी कथा ‘श्रीद्वारिकाधीश’ में श्रीबलराम-विवाह-प्रसंगमें दी गयी है।

है? अपने सखा को जब उसने शिशु बनाकर भेजा भगवती त्रिपुरा के समीप, उसे लगा होगा कि सखा कहीं अटक गया तो उसका वियोग असह्य होगा। अतः उसने एक नवीन ही काल लगा दिया उसके साथ। काल उस नटखट की कल्पना के अतिरिक्त तो कुछ है नहीं। सुभद्र के साथ वह काल ऐसा लगा कि उसके सम्मुख ब्रह्मलोक ही नहीं, सूर्यलोक, वैकुण्ठ, क्षीरोदधि, श्वेतद्वीप के काल भी छोटे पड़ते, पिछड़ते गये।

यह ऐसा ही हो गया, जैसे कोई पृथ्वी की गति से तीव्र गति के यान से बैठकर पृथ्वी की परिक्रमा करने चल पड़े। अब पृथ्वी के स्थानों का काल पिछड़ेगा या नहीं?

सुभद्र जब पृथ्वी पर आ गया, उसे अनजान में ही अपना पार्थिव शरीर प्राप्त हो गया, तब कहीं पृथ्वी का देश-काल उसका अपना बना। यहाँ का देश-काल इतना क्षुद्र कि ब्रह्मलोक में ही इसकी चतुर्युगी नगण्य हो जाती है। अत: कन्हाई क्यों यहाँ के काल की गणना करे।

सुभद्र एकाकी चार वर्ष का बालक और उसे अब वन में रहना था; किन्तु सतयुग का समय था। पशु-पक्षियों का प्रेम प्राप्त था उसे। उस युग में तो 'भिक्षां देहि' - कहकर कोई ब्राह्मणकुमार

वृक्ष के आगे भी हाथ फैलाता था तो उसके कर पर या झोली में सुपक्व फल टपक पड़ता था।

सुभद्र में अपने माता-पिताकी गुफा में जाने की इच्छा फिर नहीं हुई। उसे दूसरी गुफा भी ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं थी। वर्षा में कोई सघन वृक्ष समीप न भी हो तो अवश्य गजयूथ आ पहुँचता था वृष्टि प्रारम्भ होते ही। किसी महागज के पेट के नीचे सुभद्र बैठकर वर्षा व्यतीत कर देता था। वृष्टि थमते ही उसे बहते जल को देखने तथा उसमें छपाछप करते दौड़ने में आनन्द आता था।

शीतकाल में रात्रि को कोई भल्लूक उसे अंक में शयन कराने न पहुँचे तो वह गायों के समूह में उनसे सटकर सो जाता था। ग्रीष्म तो परिव्राजकों का प्रिय काल है। वह सम्पन्नों को भी शरीर से वस्त्र उतार देने की प्रेरणा देता है। उसमें दिन में तो छाया चाहिये; किन्तु रात्रि में चाहे जहाँ पड़ रहो।

सुभद्र अपने माता-पिता के आश्रम से बहुत दूर तो नहीं गया; किन्तु आस-पास घूमता अवश्य रहा। कभी कोई गज उसे उठाकर पीठ पर धर लेता था, कभी केहरी या भल्लूक उसे अपनी पीठ पर बैठाने के लिए सामने अड़ जाते थे। इन वाहनों ने उसे वन में घुमाया। लेकिन सलिल का सामीप्य तो पशुओं को भी आवश्यक

लगता है, अतः सुभद्र को वे सरिता से दूर नहीं ले गये। वह उनके साथ वहीं बना रहा। पलता-बढ़ता रहा।

दिन, मास, वर्षादि की गणना न आवश्यक थी, न सुभद्र को आती थी। उसका शरीर बड़ा हो रहा है, यह भी उसे पता नहीं लगा। अचानक एक दिन श्वेत श्मश्रु-केश तेजस्वी वृद्ध पुरुष वहाँ पधारे। सुभद्र ने दोनों हाथ जोड़कर उन्हें नमस्कार किया।

'आयुष्मन्! मैं तुम्हारा मातामह हूँ।' उन्होंने सुभद्र को गोद में उठाकर उसका सिर सूंघा। स्नेहपूर्वक बोले - 'तुम्हारे पिता से मिलने चला आया।'

'पिताश्री ने तो शरीर-त्याग दिया।' सुभद्र ने सहजभाव से सूचना दे दी।

'इसका अर्थ है कि मेरी सुता उनके साथ सती हो गयी।' सतयुग में दूसरी कोई सम्भावना ही नहीं थी - विशेषकर ब्राह्मण-कन्या के सम्बन्ध में। वृद्ध का स्वर गीला हो गया था।

उस सात्विकयुग में शोक-मोह क्षणस्थायी ही होते थे। वृद्ध ने अपने को शान्त बना लिया। उसने सुभद्र की ओर अब ध्यान

देकर देखा - 'तुम्हारा उपनयन होना चाहिये। तुम ब्राह्मण-कुमार हो।'

'कर दीजिये!' सुभद्र को कोई आपत्ति नहीं थी।

वे वृद्ध ऋषि थे। सतयुग में कर्मकाण्ड का विस्तार हुआ नहीं था और न मनुष्य की प्रवृत्ति रजोगुण से मलिन हुई थी। वृद्ध को वन से शुष्क काष्ठ लेकर अरणि-मन्थन का केवल आरम्भ करना पड़ा। अग्निदेव तो उनके आह्वान पर वैसे भी प्रकट हो जाते; किन्तु विधि-निर्वाह करना था।

उन ऋषि ने वहीं पशुओं से ऊर्णा-संग्रह करके, उसे कातकर यज्ञोपवीत बनाया। अग्न्याधान - अत्यल्प-पूजन और गायत्री उपदेश के साथ सुभद्र को यज्ञोपवीत पहिना दिया। पहिले दिन उस बालक ने मौंजी-मेखला पहिनी और उसमें भुर्जपत्र की कौपीन लगायी। पलाश-दण्ड मिला उसे। तब-तक अजिन (पशुचर्म) अनावश्यक माना जाता था।

वैदिक अनुष्ठान, पाठादि भी तब तक प्रणव तथा गायत्री तक परिमित थे। जब विशुद्ध चित्त कोई विप्र-बालक कभी भी समाहित होकर श्रुति का साक्षात्कार करने में समर्थ था और इच्छा

करते ही सुर सेवा में साकार स्थित हो सकते थे, अध्ययन-अध्यापन की परम्परा केवल - अत्यल्प शिष्टाचार सिखलाने तक सीमित थी, जो उसी उपनयन के दिन समाप्त हो जाती थी।

संग्रह की प्रवृत्ति पैदा ही नहीं हुई थी। शरीर-निर्वाह की चिन्ता मनुष्य ने सीखी नहीं थी। पशु-पक्षी, वृक्ष-लता भी उस समय मनुष्य का आतिथ्य करके संतोषानुभव करते थे। अत: उपनीत बालक को सूर्योपस्थान सिखलाकर शिक्षा समाप्त।

'आयुष्मन्!' यदि अपरिचित आते ही सावधान कहे तो उसे अभिवादन करना। वह ब्राह्मण होगा। तुम स्वयं किसी से मिलो तो सावधान कहना।' मातामह ने सुभद्र को शिक्षा दी - 'अपरिचित अतिथि अन्य वर्ण का हुआ तो स्वयं अपना परिचय देकर प्रणाम करेगा। सावधान सुनकर जो अपरिचित स्वयं परिचय न दे, समझ लो कि वह ब्राह्मण है। उसका अभिवादन करो।'

'वृद्ध अपरिचित को मैं आते ही अभिवादन करूँ?' सुभद्र को कुछ अद्भुत लगा।

'नहीं, अपने से अल्प का अभिवादन करने पर उसकी आयु, यश, पुण्य का नाश होता है।' वृद्ध ने बतलाया - 'ब्राह्मण का बालक अल्पायु भी हो तो अन्य वर्ण से ज्येष्ठ है। लेकिन त्याग

और विद्या में, तप में अन्य वर्ण के भी बड़े होने पर तुमसे ज्येष्ठ हो जाते हैं। वे वन्दनीय हैं; किन्तु तुम बालक हो। तुम निर्णय कैसे करोगे? उन्हें स्वयं निर्णय करके ज्येष्ठ हों तो सावधान करना चाहिये तुम्हें।'

उस समय तक ऐसा तारतम्य भी बना नहीं था। जब त्याग, तप में सबकी रुचि सहज थी, तब वर्ण के पश्चात् वय ही बड़प्पन का सूचक बन सकता था।

'अभिवादन जो करे, उसे तुम 'कल्याणमस्तु' कहकर आशीर्वाद दो। प्राणी का परम कल्याण हो, यही ब्राह्मण का काम्य है।' मातामह ने आगे कहा - 'इसके अनन्तर कुशल पूछो। ब्राह्मण को अभिवादन करनेवाले से कुशल पूछना चाहिये; क्योंकि ब्राह्मण में आशीर्वाद देकर अमंगल-निवारण की क्षमता होती है।'

'क्षत्रिय-वैश्यादि भी कुशल-प्रशन पूछते होंगे?' सुभद्र ने पूछा।

'वत्स! अभी वैश्य एवं शुद्र वर्ण विकसित ही नहीं हुए हैं। क्योंकि व्यापार - वस्तु-विनिमय अत्यल्प होता है और सेवक की आवश्यकता केवल शासक या व्यापारी को होती है।' वृद्ध पुरुष ने

कहा - 'तुम कभी उत्तानपाद के पास उनकी राजधानी गये तो इन वर्णों से मिल सकते हो। इस समय तो वही शासक हैं। मनुपुत्र प्रियव्रत तो अभी विरक्त-जीवन व्यतीत कर रहे हैं। उन्हें देवर्षि नारद के साथ का सुयोग प्राप्त हो गया है।

'क्षत्रिय निरुपद्रवता पूछता है। वह भौतिक-दैविक - दोनों उपद्रव दूर कर सकता है, अतः पूछता है - 'आप और आपके आश्रितों को किसी से उपद्रत तो नहीं होना पड़ता।'

'आप सुखी-समृद्ध तो हैं?' यह वैश्य का कुशल प्रश्न है।

'इसलिये कि वह पदार्थ-प्रदान कर सकता है।' सुभद्र ने स्वयं व्याख्या कर ली - 'लेकिन शूद्र क्या पूछता होगा?'

'आप सपरिवार स्वस्थ तो हैं?' वैसे उसका प्रश्न अकारण होता है; क्योंकि इस युग में अस्वस्थ पुरुष सुना ही नहीं जाता। अस्वास्थ्य तो असंयम से आता है और असंयम का मूल राजस-तामस प्रवृत्ति है, जो त्रेता के पश्चात् जन्म लेगी। लेकिन शूद्र सेवा ही तो कर सकता है। स्वस्थ व्यक्ति को सेवा की आवश्यकता तब होती है, जब उसे शासन में व्यस्त रहना हो या व्यापार करना हो।'

सतयुग में मानव-मन को विलासिता ने स्पर्श ही नहीं किया था। अतः वैयक्तिक सेवा भी आवश्यक है, यह कोई सोच भी नहीं सकता था। अपना दैनिक कार्य तो साधना समझा जाता था। साधना तो दूसरे से करायी नहीं जा सकती।

संग्रह के विस्तार के साथ सेवा की आवश्यकता बढ़ती है, यह आज भी सत्य है। एक छोटी झोंपड़ी का निवासी स्वयं झाड़ू लगा लेगा; किन्तु कोई बहुत बड़ा भवन हो तो? केवल कोपीन या अल्पवस्त्रधारी तो अपने वस्त्र धो लेगा; किन्तु जहाँ वस्त्रों से आलमारियाँ भरी हों, वहाँ धोबी के बिना किसे काम चलेगा।

'स्वास्थ्य क्या?' सुभद्र ने ही नहीं, समूचे सतयुग के पुरुषों ने रोग का नाम नहीं सुना। अतः सुभद्र को स्वस्थ-अस्वस्थ शब्द का अर्थ ही पता नहीं।

'स्व में स्थित स्वस्थ।' वृद्ध पुरुष ने सतयुग की परिभाषा बतला दी - 'अपनी आत्मा को छोड़कर अन्य का चिन्तन चित्त में आया तो अस्वस्थ। शरीर-संसार का चिन्तन ही अस्वस्थ होना है।'

समवायु समग्निश्च समवातु मलक्रियः।

प्रसन्नकायेन्द्रियमनः स्वस्थो इत्यभिधीयते।।

'वायु, जठराग्नि, कफ-पित्तादि धातुएँ और मल-मूत्र-स्वेदादि की क्रिया समान रहे। न इनमें वृद्धि हो, न ये अवरुद्ध या कम हों। शरीर, इन्द्रिय, मन निर्मल हो तो व्यक्ति स्वस्थ कहा जाता है', यह महर्षि चरक की परिभाषा है।

'शरीर की ओर ध्यान न जाय तो अपने को स्वस्थ समझो।' यह परिभाषा एक संत ने सुनायी थी। यह परिभाषा आज की। शरीर या शरीर के किसी अंग की ओर ध्यान जाता है तो वहाँ कुछ गड़बड़ है।

सतयुग में परिभाषा की सीमा बढ़ गयी थी। शरीर या संसार - किसी की ओर ध्यान गया तो स्व में कहाँ रहे?

'कन्हाई स्मरण आवे तो?' सुभद्र ने पूछा। उसे लगा कि उसके पितामह की परिभाषा में कहीं त्रुटि है। कन्हाई का स्मरण न आवे तो मनुष्य स्वस्थ कैसे कहा जायगा?

'मैं भूल गया आयुष्मन्!' वृद्ध ने अब सुभद्र की ओर बहुत ध्यान से देखा। उन्होंने तो सुभद्र को कभी देखा नहीं था। अब दो

क्षण नेत्र बन्द किये रहे। अचानक उनका शरीर कम्पित होने लगा, रोमांच हुआ, स्वेद-धारा चलने लगी और नेत्रों से अश्रुप्रवाह चल पड़ा। सुभद्र चकित देखता रह गया उनकी ओर।

'मैं धन्य हो गया। मेरा कुल धन्य हो गया। मेरी कन्या ने मुझे कृतार्थ कर दिया।' कुछ समय लगा वृद्ध को सावधान होने में। सुभद्र को वे इतने समय हृदय से लगाये रहे। सावधान होने पर बोले - 'वत्स! तुमको साथ ले जाकर मैं तप तथा ध्यान में लगाने की बात सोच रहा था; किन्तु तुम तो तप-ध्यान के परमाभीष्ठ को पहिले-से प्राणार्पण कर चुके हो।'

'मैंने तो किसी को कुछ नहीं दिया।' सुभद्र ने भोलेपन से कहा - 'माता-पिता के पश्चात् प्रथम व्यक्ति आप ही मुझे मिले। आप आहार ग्रहण करेंगे?'

'आयुष्मन्! मैं तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकता। तुम मेरे दौहित्र हो और आहार का अभाव तो यहाँ वन में है नहीं।' मातामह ने कहा - 'मैं तुम्हारे सखा की बात कह रहा था। तुम्हारा कन्हाई तो आत्मा का भी आत्मा है। उसका चिन्तन ही सच्चा स्वस्थ होना है।'

'अब तुम उपनीत हो गये हो, अत: जलपात्र रखा करो।' सुभद्र को उन वृद्ध ने शौचाचार का कुछ नियम समझाकर कहा - 'मैं तुम्हारे लिए नारिकेल-पात्र ला देता हूँ।'

'वह तो पिताश्री की गुफा में पड़ा है।' सुभद्र ने बतलाया - 'उसे स्वीकार करने में कोई दोष है?'

'वह सब जो उस गुफा में है, तुम्हारा स्वत्व है।' वृद्ध ने आग्रह नहीं किया कि उनका लाया पात्र सुभद्र स्वीकार करे। वे भी सतयुग के अपरिग्रही विप्र थे और मोह का कलुष उनके मन में भी नहीं था। उन्हें संतोष था कि उनका दौहित्र अपने पिता का उचित कुलधर है।

सुभद्र का सिर सूंघ कर, उसे आशीर्वाद देकर वे विदा हुए। उन्होंने सुभद्र को साथ ले जाना अनावश्यक माना और सुभद्र की भी साथ जाने में रुचि नहीं थी। वह एकान्तप्रिय था।

भूत भी - भविष्य भी-

अनेक वर्ष पीछे की बात - सुभद्र युवा हो गया। उसके मन में पर्यटन की बात आयी। उसे मातामह से सुनी उत्तानपाद की पुरी देखने की इच्छा हुई। उसे कहीं कोई बाधा तो थी नहीं। बाधा होती है - संग्रह-परिग्रह होने पर। जिसे कदली-वलकल की कोपीन लगानी है और वन के कन्द, मूल-फल ही खाने हैं, वह कहाँ रहे, यह तो सोचने की बात नहीं थी।

वह एक दिन चल पड़ा और चलता रहा। उसे केवल इतना पता था कि पर्वतीय क्षेत्र से नीचे कहीं उत्तानपाद की पुरी है और सब सरिताएं सीधी या किसी अन्य में मिलने के क्रम से नीचे के समतल क्षेत्र में ही जाती हैं। वह अपनी परिचित सरिता का तट पकड़ कर नीचे की ओर, उसके प्रवाह की ओर चल पड़ा था।

थोड़े स्थानों पर उसे सरिता का तट छोड़कर पर्वत पर चढ़ना पड़ा, क्योंकि सरिता-तट का कगार इतना सीधा-सपाट बन गया था कटाव के कारण कि वहाँ पैदल भी चलना सम्भव नहीं था।

अनेक स्थान मिले, जहाँ मार्ग में नाले थे। उसे तो वहाँ भी कठिनाई नहीं हुई, जहाँ वह छोटी सरिता दूसरी में मिल गयी। ऐसा

कई स्थानों पर हुआ। कभी वह सरिता अन्य में मिली, कभी अन्य उसमें। ऐसे सब स्थानों पर वह सम्मुख पड़ने वाली सरिता के तट को पकड़कर ऊपर की ओर चल पड़ता था। जहाँ संतरण की सुविधा होती, वह तैर लेता। उसने पशुओं को संतरण करते देखकर शैशव में ही यह कला सीख ली थी; किन्तु संतरण योग्य स्थल बहुत कम मिलते थे। उसे प्राय: सरिता-किनारे किसी बाढ़ में गिरे वृक्ष मिल जाते थे। जहाँ वह प्रयत्न करके उन्हें पानी में पहुँचा पाता था, श्रम करके, ठेलकर प्रवाह में पहुँचा देता और उस पर बैठ जाता। इस प्रकार सरिता पार करना सुगम हो जाता था।

'तुम मुझे उस तट पर पहुँचा दोगे?' वह तो मिलनेवाले किसी वन पशु से कह सकता था, किन्तु उसे अनुभव हो गया था कि केवल वन्य महिष, बाराह और गज उसकी सहायता कर सकते हैं। वे भी सब स्थानों पर साहस नहीं कर पाते। केशरी और भल्लूक जल में उतरना ही नहीं चाहते और कपि पर्वतीय सरिताओं के प्रवाह में बहने लगते हैं।

उसकी यात्रा टूटे वृक्षों या पशुओं की सहायता से चलती रही। वह जब चला था, वर्षा बीत चुकी थी। शीत के प्रारम्भ में नीचे आने में उसे प्रकृति ने सहायता ही दी। उसे सुखद वातावरण मिला।

वन में वृक्ष थे, कन्द थे, सरिता में स्वच्छ जल था। अनेक बार कपि या भल्लूक बिना माँगे उसे कोई फल या मधुछत्रक दे जाते थे। अनेक स्थानों पर वन्य गजों ने उठाकर उसे पीठ पर बैठा लिया और अपनी इच्छानुसार ले गये।

उसे न मार्ग का पता था, न यात्रा का निश्चित लक्ष्य किधर है इसका। जब क्षुधा लगती, आहार के लिए फल-कन्द मिल जाते थे। रात्रि में किसी समतल स्थान पर, शिला पर अथवा सरितातट के किसी मोड़ पर छोटा पुलिन मिला तो वहाँ सो गया।

सुभद्र को कहीं पहुँचने की शीघ्रता नहीं थी। वह तो चलने के लिए चल रहा था। अन्तत: उसकी यात्रा पर्वतीय क्षेत्रों से बाहर पहुँच गयी। पहिले से ही वन सघन मिलने लगे थे। वृक्षों में सुस्वादु फल के वृक्ष बहुलता से मिलने लगे। कपिगज प्रभृति भी बहुत थे इन वनों में। साथ ही वृश्चिक, सर्प भी थे और कण्टक भी। स्पर्श से पीड़ा देने वाली वनस्पति भी।

जब एक कपि ने एक दिन उसके कर से छीनकर एक फल सूंघकर फेंक दिया, वह समझ गया कि अब फलों को कपियों को दिखाकर आहार बनाना है। इसी प्रकार भल्लूक ने कन्दों के

सम्बन्ध में सावधान कर दिया। सच तो यह है कि अब वन-पशु ही उसे आहार देने लगे। वह स्वयं अब फलादि नहीं उठाता था। स्पर्श-कातर करने वाले क्षुप्रों को उसने पहचान लिया था और रात्रि में शयन के लिए कोई प्रशस्त शिला या तृण-लताओं से रहित स्थान ढूंढ़ता था।

जैसे-जैसे समतल क्षेत्र समीप आता गया, वन की सघनता बढ़ती ही गयी। वनगज कम ही स्थानों में पर्वत में मिले थे; किन्तु अब तो वे उसका प्रतिदिन आतिथ्य करने लगे। अवश्य ही कपि और भल्लुकों का समुदाय उसे प्राय: प्रतिदिन मिला था।

यात्रा के इसी क्रम में एक सायंकाल वह एक टीलेपर बैठ गया। अब वह पर्वतीय क्षेत्र पीछे छोड़ आया था। यहाँ सरिता-तट पर पुलिन नहीं था। वन सघन था और कण्टक-वृक्षों से भरा था। केवल यह टीला ऐसा था कि उस पर कोई तृण नहीं उगा था। यह स्थान वृक्ष अथवा तृण से हीन क्यों है, यह सुभद्र क्यों सोचे। उसे रात्रि-शयन के योग्य स्थान प्रतीत हुआ, अतः वहाँ बैठ गया।

पता नहीं, क्यों कपियों ने बहुत विरोध किया। अनेक ने पहली बार दाँत दिखाकर डराना चाहा उसे। सुभद्र हँस पड़ा। दो-एक ने उसका हाथ पकड़कर उठ जाने का संकेत किया। एक मोटा

भल्लूक बार-बार सामने बैठ जाता था कि सुभद्र उसकी पीठ पर बैठ जाय।

उस दिन सुभद्र बहुत चला था। श्रान्त हो गया था। उसे कहीं पहुंचना नहीं था; किन्तु चलने की धुन चढ़ी तो चलता ही गया। अब दिनान्त में यह तृणहीन स्वच्छ टीला मिला तो इस पर से उठने को उसका चित्त नहीं हुआ। कपियों और भल्लूक के आग्रह को उसने टाल दिया।

'यहाँ क्या है? क्यों ये सब मुझे यहाँ से हट जानेका आग्रह करते हैं?' सुभद्र सहानुभूतिपूर्ण वन-पशुओं का संकेत समझता था। पशुओं में ही पला था; किन्तु भय क्या होता है, यह तो वह जानता ही नहीं था। उसे अटपटा लगा कि अन्धकार होते ही कपि- भल्लूक सब उस टीले से दूर भाग गये।

'यहाँ भूमि दृढ़ है, स्वच्छ है।' कपियों के संकेत को देखकर सूर्यास्त के समय ही सुभद्र ने देख लिया था कि वहाँ कोई बिल नहीं हैं। 'वृश्चिक सम्भव नहीं हैं और सर्प का बिल नहीं। वन में से क्या करने आवेगा सर्प यहाँ? तब यहाँ रात्रि में व्याघ्र या केहरी बैठता है?'

'सुभद्र को सर्प, व्याघ्र, केहरी सब खेलने योग्य सखा लगते हैं। इनसे वह बहुत परिचित है। कपि और भल्लूक रात्रि में वृक्षहीन स्थान पर नहीं रहेंगे, यह भी स्वाभाविक था। अत: अन्धकार होने पर वह लेट गया। श्रान्त तो था ही, प्रगाढ़ निद्रा उसे वैसे भी सदा आती है।

'गुड़म्, गुड़म्, गुड़म्' जैसे किसी धातु का बना कोई बहुत भारी घड़ा लुढ़काया जा रहा हो ऐसा शब्द - विचित्र-सी झनकार, खनखनाहटभरा शब्द गूँजने लगा। सुभद्र की निद्रा टूट गयी उस शब्द से। वह उठकर बैठ गया।

आकाश निर्मल था। चन्द्रमा ऊपर आ गया था। स्वच्छ ज्योत्स्ना में सुभद्र ने एक बहुत भारी अत्यन्त काले घड़े-जैसे आकार को देखा। उसमें प्रज्वलित उल्का के समान दो नेत्र चमक रहे थे।

'कौन है तू?' उस आकार ने बड़े रुक्ष, गड़गड़ाहट-जैसे स्वर में डाँटा।

'तू कौन है?' सुभद्र झल्ला उठा। इस प्रकार उससे बोलनेवाला यह कौन आ गया?

'मैं भूत हूँ।' उस आकार ने गुर्राहट से कहा - 'तुझे भक्षण कर लूँगा।'

'झूठा कहीं का।' सुभद्र तो हँसने लगा - 'साक्षात् वर्तमान है और अपने को भूत कहता है। मैं कोई पक्व फल हूँ कि मुझे भक्षण करेगा?'

स्मरण करा दूँ आपको कि वह प्रथम सतयुग था। सिंह-व्याघ्र भी हिंसा नहीं करते थे। स्वत:मृत्युप्राप्त प्राणी ही उनके भक्ष्य थे। अतः सृष्टि में ये पशु अत्यल्प थे।

'तू हँसता है? मैं प्रेत हूँ।' वह आकार कटकटाया। वह झल्ला रहा था। उसकी गति अवरुद्ध हो गयी थी। वह चाहकर भी सुभद्र की ओर बढ़ नहीं पा रहा था। 'मुझे जानता नहीं।'

'तू प्रेत है तो बोलता क्यों है?' अब सुभद्र खड़ा हो गया। उसने समीप पड़ा पलाशदण्ड उठाया - 'तुझे मैं नहीं जानता? नटखट, मुझे सोने नहीं देता। क्यों जगाया तूने मुझे?'

'यह मेरा घर है। भाग जा यहाँ से।' वह आकार अब गर्जना कर रहा था - 'मैं कूष्माण्ड हूँ। पिशाच हूँ।'

'हाँ, तेरा घर तो है।' सुभद्र शान्त कह गया - 'तूने मिट्टी बनायी, वृक्ष बनाये, ये आकाश और चन्द्र बनाये। घर तो तेरा ही है सब; किन्तु कनूँ! अब तू पिटेगा। अन्यथा मुझे सो जाने दे।'

भड़ाम का भयानक शब्द हुआ। ऐसा शब्द जैसे आजकल कुछ - सौ बम एक साथ फूटने पर होगा। पूरा वन गूँज उठा। पशु-पक्षी चीत्कार करके भागने लगे। फट गया था वह भारी कूष्माण्ड। उसमें से स्निग्ध सहस्त्र-सहस्त्र ज्योत्स्ना फूट निकली। मयूर-मुकुटी, पीताम्बरधारी, सजल-जलद-नील व्रज राजकुमार हँसता प्रकट हुआ।

'तू इस काले कूष्माण्ड में घुसा बैठा था?' सुभद्र ने भुजाएँ फैलाकर अंकमाल दी। 'मैं तभी जान गया, जब वह अपने को भूत कहने लगा। ऐसा अटपटा झूठ तो केवल तू ही बोल सकता है।'

'वह झूठा नहीं था।' कन्हाई ने कहा।

'वह कौन? तू अब भी मुझे भुलावे में डालना चाहता है?' सुभद्र फिर झल्लाया - 'लेकिन तू उतना भोंडा काला मटका क्यों बना था?'

'कूष्माण्ड भूतवर्ग की ही एक जाति है।' श्याम ने समझाना चाहा - 'यहाँ भूमि में स्वर्ण-रत्न हैं। अतः यह उसका संरक्षक बना यहाँ रहने लगा था।'

'तू अब बातें बनावेगा? तू ही यह वन, पर्वत, भूमि-सरिता नहीं है?' सुभद्र ने कहा - 'लेकिन तू भूत या भविष्य कब से बनने लगा? तू तो नित्य वर्तमान है।'

'इस कूष्माण्ड को तू जानता है।' कन्हाई ने परिचय देने का प्रयत्न किया - 'इसी के शाप से तू यहाँ संसार में है।'

'मैं तेरे अतिरिक्त किसी को नहीं जानता, न जानना ही चाहता।' सुभद्र का स्वर स्वस्थ था - 'मैं कहीं हूँ या रहूँ तो इसमें तेरी इच्छा के अतिरिक्त दूसरा कारण हो नहीं सकता।'

'तू मुझसे रूठ रहा है?' श्याम ने सखा के कन्धे पर भुजा रखी।

'रूठूँगा नहीं, तू मुझे सोने नहीं देता और भूत बनता है।' सुभद्र बोला - 'मेरा तो तू ही भूत भी है भविष्य भी; किन्तु तू भूत नहीं बन सकता। तू तो नित्य वर्तमान है।'

सुभद्र का वह सखा अदृश्य हो गया और सुभद्र लेटा तो तब उठा जब प्रात:कालीन प्रकाश हो चला था।

सुरुचि ठीक है-

अतिथि भारत में सदा अभ्यर्चनीय माना जाता रहा है। सुभद्र का आतिथ्य करने में राजा उत्तानपाद ने अपने को धन्य माना। एक स्वच्छ कुटीर उसे दे दी गयी।

ब्रह्मावर्त तक पहुँचने में सुभद्र को कोई कठिनाई नहीं हुई थी। जैसे ही समतल क्षेत्र में वह एक गृहस्थ का अतिथि हुआ, उसे पता लग गया कि वह अनजान में ही सरिताओं का अनुसरण करता सुरसरि के (तब अलकनन्दा के क्योंकि तब भागीरथी की धारा थी ही नहीं) तट पर पहुँच गया है और अब उसे सरिता के साथ ही चलकर उत्तानपाद को पुरी पहुँच जाना है।

उस समय न नगर थे, न ग्राम; किन्तु अलकनन्दा के तट पर स्थान-स्थान पर तपस्वी अवश्य उसे मिलते गये। गृहस्थ भी तपस्वी ही थे उस समय। कदाचित ही कहीं दो या तीन कुटीरें समीप मिली होंगी। लोग एकान्त-प्रिय थे। अल्प में संतोष करनेवाले, अपरिग्रही थे, तितिक्षु थे।

अन्तर्मुख होना ही प्रिय था उस समय सबको। दो या तीन कुटीरें समीप मिलने का अर्थ होता था कि वहाँ वैश्य बसते हैं।

वस्तु-विनिमय भी प्रारम्भ नहीं हुआ था। गोपालन और कृषि; किन्तु कृषि का अर्थ इतना ही कि बिना जोते गीली भूमि में समय पर बीज बिखेर दिये और पकने पर उनका संग्रह कर लिया। यह अन्न-संग्रह तथा गोरस आगत अतिथि के सत्कार के लिए। कम ही सौभाग्य मिलता था कि आस-पास बसा गृहस्थ ब्राह्मण उसका कोई भाग स्वीकार कर ले। तब तक प्रतिग्रह से विप्रों की सहज अरुचि थी।

आप कह सकते हो कि उस समय का समाज अविकसित था। अरण्यवासी लोग थे और तृण कुटीरों में यत्र-तत्र बिखरे रहते थे। नाम-मात्र का वस्त्र धारण था। लेकिन यह आरोप अज्ञान होगा आपका कि वे अनजान थे अथवा असमर्थ थे। तब तक मनुष्य ने जाना ही नहीं था कि रोग क्या होता है। भोगोन्मुख प्रवृत्ति नहीं थी। तप एवं ध्यान प्रिय था। संकल्पबल इतना शक्तिशाली था कि इच्छा होते ही ब्रह्मलोक तक पहुँचना सरल था।

उस समय तक धरा सुरों के लिए अपने उद्यान के समान थी। देवताओं तथा उपदेवता (गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, नाग, वानर, रीछ, दैत्य, दानव) में इतना ही अन्तर था कि मानव में जन्मजात सिद्धियाँ नहीं थीं। अन्यथा इनके परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध तक होते थे। मनुष्य के लिए दिव्यलोक भी सहज गम्य थे।

अवश्य भौतिक उन्नति तब प्रिय नहीं थी। तब सेना-सेवकों का आडम्बर उत्पन्न ही नहीं हुआ था। पुराण का विद्यार्थी भी जानता है कि प्रथम मनु स्वायम्भुव अपनी पुत्री के लिए वर ढूँढ़ने निकले तो पत्नी और पुत्री के अतिरिक्त केवल सारथी उनके साथ था और यात्रा करनी थी उन्हें ब्रह्मावर्त (कानपुर के समीप) से कर्दमाश्रम - सिद्धपुर (गुजरात) तक की।

ध्रुव का जब यक्षों से आगे युद्ध हुआ, ध्रुव के साथ भी कोई सेना नहीं थी। वे एकाकी ही यक्षपुरी अलका पहुँचे थे। सेना तो थी लोकपाल कुबेर के पास यक्षों (उपदेवताओं) की। लेकिन जो एकाकी भी जन्मसिद्ध यक्षों की बलवती सेनापर विजय पा सके, उसके अस्त्रज्ञान को अविकसित कहते समय सोचना आवश्यक है।

सुभद्र को मार्ग में जहाँ भी कोई कुटीर मिली, आतिथ्य प्राप्त हुआ। राजा उत्तानपाद तो चाहते थे कि वह उनके समीप ही रहे। वह रहा भी वहाँ पर्याप्त समय; किन्तु स्थायी कहीं बस जाना तो तब तक बहुत कम मनुष्यों ने सीखा था। सुभद्र तो स्वभाव से परिव्राजक था।

बहुत थोड़े उटज थे आस-पास। राजा उत्तानपाद अवश्य चक्रवर्ती कहे जा सकते हैं; क्योंकि इतने भी लोग उनके समीप बस गये थे। शासनतन्त्र तो तब ठीक उत्पन्न ही नहीं हुआ था। आज के ग्राम-चौधरी-जैसी ही स्थिति उत्तानपाद की थी। अवश्य उनका सदन मिट्टी-खपरैल का बना था। उनके समीप कुछ गज, अश्व और रथ थे। कुछ सेवक भी थे उनके जो परिवार के सदस्यों के समान ही व्यवहार पाते थे।

ध्रुव युवराज हो चुके थे। तप करके भगवान् नारायण का दर्शन किया था उन्होंने। अत: उनका सुयश व्यापक था। सब उनका सम्मान करते थे। सुनिश्चित था कि उत्तानपाद उन्हें निकट-भविष्य में राज्यभार सौंपकर वन में तप करने चले जायँगे।

इसका एक परिणाम और हुआ था। छोटी रानी सुरुचि उपेक्षिता हो गयी थीं। उनका पुत्र उत्तम अधिक समय आखेट में व्यतीत करता था। वह दूर-दूर निकल जाता था और महीनों में लौटता था। अब पिता के पास उसका मन नहीं लगता था। यद्यपि ध्रुव से उत्तम का सौहार्द था और दोनों भाइयों में प्रीति थी।

ध्रुव की माता सुनीति उत्तानपाद की प्रिया हो गयी थीं। वे निकट में ही राजमाता होने वाली थीं। उत्तानपाद उनकी बात

टालते नहीं थे। वैसे सुनीति अत्यन्त विनम्र, संयमी और उपासना में लगी रहनेवाली थीं। सुरुचि को उन्होंने सगी अनुजा का स्नेह ही दिया; किन्तु साज-सज्जा या गृह-व्यवहार में उनकी रुचि नहीं थी। उनके स्वयं के केश तक, कम ही होता जब बिखरे न हों। शरीर तथा सामग्री की ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। पति-पुत्र की सेवा में भी कम समय देती थीं वे।

सुरुचि वैसे अब भी गृह-स्वामिनी थीं। वही सेवकों और अतिथियों को सँभालती थीं। ध्रुव उनका सम्मान करते थे। केवल पति ने उनकी उपेक्षा कर दी थी।

सुभद्र का आतिथ्य कभी देवी सुनीति करती और कभी सुरुचि। दोनों रानियों के सदन पृथक-पृथक थे। लेकिन सुभद्र का प्रवेश दोनों के यहाँ अबाध था। दोनों को वह 'अम्ब' कहता था। यद्यपि ब्राह्मणकुमार होने से उत्तानपाद भी उसको अभ्युत्थान देते थे और उसका सदा सम्मान करते थे।

सुभद्र स्वभाव से अरण्यानी था। उसे यह छोटा गाँव भी काटता लगता था। उटज की फूस की भित्तियों में वह बन्धन का अनुभव करता था। फलत: वह प्रायः रात्रि में भी सरिता के पुलिन

पर ही शयन करता था। दिन में तो आहार के समय उसे ढूँढ़ना पड़ता था। वह वृक्षों के नीचे बैठा मिलता या उद्यान में।

'अम्ब सुरुचि ठीक हैं। उनकी सुव्यवस्था आवश्यक है। सीखनी चाहिये सबको। उनके करों में कला है।' अनेक बार सुभद्र ने ध्रुव से यह बात कही।

'भगवान् मनु की सन्तान को सुव्यवस्थित रहना है तो उसे छोटी अम्बा से सीखना पड़ेगा।' ध्रुव को भी यह बात मान्य थी। लेकिन ध्रुव स्वयं अपनी माता के समान आराधना-प्रिय थे। यह तो कुशल थी कि उस समय तक मनुष्य में ईर्ष्या-द्वेष आया नहीं था और वह स्वावलम्बी था। अपने आस-पास स्वच्छता करने को उसे कहना नहीं पड़ता था।

सतयुग का ब्राह्मणकुमार सुभद्र; किन्तु विचित्र प्रकृति मिली थी उसे। न तप, न ध्यान - केवल अलमस्त बैठा रहता या सरिता-तट पर सिर झुकाये घूमता। कुछ करने में प्रवृत्ति नहीं; किन्तु कुछ करना ही हो तो उपेक्षापूर्वक या अधूरा करना उसे अत्यन्त अरुचिकर है। जो करो, पूरा करो - पूरी निपुणता और सावधानी से करो।

सुरुचिदेवी सचमुच सुरुचि थीं। उन्हें एक तृण भी अस्त-व्यस्त रहे, यह सहन नहीं था। उनका शरीर, सदन, सामग्री सब सुव्यवस्थित-सुसज्ज। रात्रि के अन्धकार में भी कुछ पाने को उन्हें प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। प्रत्येक वस्तु का स्थान सुनिश्चित था। व्यवहार में लाने के पश्चात् उसे वहीं रखा जाना चाहिये।

सुभद्र अधिकांश देवी सुरुचि का ही अतिथि होता था। वहीं आहार के समय सचिन्त होकर किसी-न-किसी को उसका अन्वेषण करने भेजती थीं। उनके यहाँ भी आहार प्रायः वही, जो देवी सुनीति के यहाँ; किन्तु कर-पाद-प्रक्षालन कराने, उनका प्रोक्षण, आसन और आहार को पात्र में सज्जित करने में देवी सुरुचि की कला प्रसन्न कर देती थी सुभद्र को।

'आप-कर प्रोक्षण कर लें!' सुभद्र तो यहाँ आकर सीख सका कि आहार के पश्चात् प्रक्षालित कर-मुख को पोंछना भी चाहिये। वह तो स्नान करके शरीर को भी सुखाने का दायित्व वायुदेव पर छोड़ देता है। केवल कौपीन पहिननेवाला दूसरा कर भी क्या सकता था। लेकिन देवी सुरुचि नम्रतापूर्वक भी सूचना ऐसे देती हैं कि उनकी आज्ञा मानकर पालन करता पड़ता है।

'इसमें सौष्ठव ही नहीं है, सुविधा भी है।' सुभद्र ने शीघ्र अनुभव कर लिया कि देवी सुरुचि को आवश्यक होने पर वस्त्र-खण्ड अथवा आसन ढूंढ़ने के लिए कितनी अकुलाहट होती है और कैसे अस्त-व्यस्त हो जाती हैं वे। इस घबराहट में अनेक बार आवश्यक करणीय भी विस्मृत हो जाता है।

'गृह में रहना हो तो अम्ब सुरुचि के समान सुव्यवस्थित रहना उचित है।' सुभद्र सुरुचि की सुव्यवस्था से संतुष्ट होकर वहाँ रुक गया था, यह भी कहा जा सकता था। उसे माता का स्नेह मिला नहीं था। अब यहाँ सुरुचि की सावधानी में वह उसी स्नेह की झलक पा लेता था।

'उनका जीवन जैसे समय के साथ जुड़ा है।' ध्रुव ने बतलाया - 'प्रत्येक समय का कार्य निश्चित है। उस ठीक समय वे वही कार्य करती मिलेंगी। सम्भवत: निद्रा भी उनके निर्दिष्ट समय पर आती और चली जाती है।

'अम्ब सुरुचि ठीक है।' सुभद्र अनेक बार यह बात दुहराता है - 'प्रकृति में ऋतु-परिवर्तन समय पर होता है। वृक्ष समय पर पुष्प-फल देते हैं। पशु-पक्षी समय पर सोते-जागते हैं। मनुष्य का शरीर

भी समष्टि का अंग है। समय के साथ इसकी चर्या जुड़ी रहेगी तो इसे सुविधा होगी। शान्ति मिलेगी।'

सुभद्र का जीवन भी कम नियन्त्रित नहीं है। शैशव में माता उसे प्रभात से पूर्व उठा देती थी। कुछ ही बड़ा हुआ तो ब्राह्ममुहूर्त में उठने का अभ्यासी हो गया। स्नान प्राय: सूर्योदय से पूर्व तो सभी कर लेते हैं; किन्तु रात्रि के प्रथम प्रहर के बीतते-न-बीतते सुभद्र सो जायगा ही।

उत्तानपाद की पुरी में आकर सुभद्र ने देखा कि रात्रि-जागरण के अनुष्ठान, उपासना भी हैं। सम्पूर्ण रात्रि ध्यान करते बैठे रहनेवाले लोग भी उसे मिले थे; किन्तु वह कह देता है - सृष्टिकर्ता कर्ता जब मनुष्य बनाते हैं तो इस कर्मयोनि के प्राणी में दूसरे सब प्राणियों के स्वभाव का किञ्चित सम्मिश्रण कर देते हैं। मेरे निर्माण के समय वे रात्रिचरों के स्वभाव का सम्मिश्रण विस्मृत हो गये।'

'अम्ब! रात्रि-जागरण एवं विचरण आवश्यक है?' उसने सुरुचि से एक दिन पूछा।

'तुम्हारे लिए कुछ आवश्यक नहीं है।' सुरुचि ने सस्मित कह दिया - 'किन्तु तुम, हम-सबके लिए ऐसा कोई विधान करने मत बैठना। हम स्त्रियों को उपोषित रहने और रात्रि-जागरण की शक्ति सहज न मिले तो हम शिशुओं का संरक्षण-पोषण कैसे कर सकेंगी।'

सुभद्र गम्भीर हो गया - 'अम्ब सुरुचि कितनी सावधान हैं। कितना पूर्ण निर्णय है इनका।'

सुरुचि में कभी अहंकार जागा था, यह सुभद्र ने सुना था; किन्तु उसे उसका हृदय कभी महत्त्व नहीं दे सका।

मनु और सप्तर्षि-

अचानक एक दिन सप्तर्षि पधारे - (इस वैवस्वत मन्वन्तर के नहीं, उस स्वायम्भुव मन्वन्तर के)। सबके सब सृष्टिकर्ता के पुत्र। सब महर्षि 1. मरीचि, 2. भृगु, 3. अंगिरा, 4. पुलस्त्य, 5. पुलह, 6. क्रतु, 7. कर्दम[2]। ब्रह्मपुत्रों में से अत्रि और वसिष्ठ को पीछे सप्तर्षि पद प्राप्त हुआ। सम्भवत: इसलिये कि अत्रि ने पृथु तक सूर्यवंश का पौरोहित्य स्वीकार कर लिया था और पीछे वैवस्वत मन्वन्तर में यह पद वसिष्ठ ने प्राप्त कर लिया।

---

[2] श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण- दोनोंमें आया है कि मन्वन्तरके मनु और सप्तर्षि तथा इंद्र पृथक्-पृथक् होते है; किन्तु प्रथम स्वायम्भुव मन्वन्तरके मनुओंका पूरा नाम दोनों पुराणोंने नहीं दिया । पद्मपुराण, सृष्टिखण्डमें तथा भागवतमें भी वर्तमान मन्वन्तरके मनुओंके नाम है- १. अत्रि, २. वसिष्ठ, ३. कश्यप, ४.गौतम, ५. भरद्वाज ६. विश्वामित्र, ७. जमदग्नि। पद्मपुराणमें वही स्वारोचिष मन्वन्तरके मनुओंके नाम है-१.अत्रि, २.दत्त ३.च्यवन, ४.स्तम्ब, ५.प्राण, ६.कश्यप,७. वृहस्पति। महाभारतमें सप्तर्षियोंके नाम है-१. मरीचि, २.अत्रि, ३.अंगिरा, ४.पुलस्त्य, ५.पुलह, ६. क्रतु, ७.वसिष्ठ। इन सबमें अत्रि और वसिष्ठके नामोंकी आवृति हुई है- पता नहीं किस भूलसे।

सुभद्र के सम्मुख ही वे आ खड़े हुए थे, अतः उसने उन सबके चरणों में प्रणाम किया। आशीर्वाद देने के अनन्तर उनमें से महर्षि मरीचि ने कहा - 'वत्स! अभी सृष्टि प्रारम्भ ही हुई है। स्वयं सृष्टिकर्ता इसकी वृद्धि के लिए सचिन्त हैं। इस आदियुग में ही यदि तुम जैसे युवक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अपना लेंगे तो प्रजा की वृद्धि में बाधा पड़ेगी।'

'कन्हाई को तो विवाह करने का व्यसन है।' सुभद्र ने अपने ढंग से उत्तर दिया - 'आप सब उसे बुला लीजिये! आपकी सृष्टि वह बहुत बढ़ा देगा।'

'हम इस मन्वन्तर के सप्तर्षियों का कर्तव्य तो कर्म-परम्परा को बनाये रखना है।' अब कर्दमजी ने कहा - 'तुम्हारे सखा को बुलाना हमारे वश में नहीं है। वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं और तुमको भी हम कोई आज्ञा नहीं दे सकते। तुमसे हम अनुरोध ही कर सकते हैं।'

'व्यायाम कभी मेरे मन के अनुकूल नहीं पड़ा।' सुभद्र ने कहा - 'कर्म का नियमितपना मुझे व्यायाम ही लगता है। मैं समझ नहीं पाता कि प्राणी बहुत से प्रपञ्चों में पड़कर क्या लाभ पाता है?

चुपचाप कन्हाई के स्मरण में जो परमानन्द है, उससे परांमुख क्यों होता है?'

सप्तर्षिगणों के लिए इतना पर्याप्त था। वे कैसे कह सकते थे कि सुभद्र जो कह रहा है, वही परम सत्य नहीं है। जो प्रेम को प्रिय नहीं मानता, उसे प्रवृत्ति में लगाया कैसे जा सकता है। श्रेय तो श्रीकृष्ण का स्मरण ही है; इसमें मतभेद सम्भव नहीं। अतः वे ऋषि अदृश्य हो गये।

'मैंने इन ऋषियों का लोक नहीं देखा।' सुभद्र को अधिक सोचना नहीं पड़ा। उसे एक दिन देवर्षि मिल गये। ऐसे ही अचानक मिल गये, जैसे सप्तर्षि आ गये थे। सुभद्र ने उनसे पूछा - 'सप्तर्षि के लोक में मैं जा सकता हूँ?'

'तुम वहाँ तपस्या करोगे?' देवर्षि हँस पड़े - 'यहीं से रात्रि में जब गगन निर्मल हो, उनके दर्शन कर लिया करो! वे कोई ऐसे लोक नहीं हैं जहाँ तुम दो दिन भी रहो। एक-एक नक्षत्र-जैसे हैं वे और उनमें एक-एक ऋषि सपरिवार रहते हैं। सो भी केवल एक मन्वन्तर काल।'

'वे वहाँ स्थायी नहीं रहते?' सुभद्र को कुतूहल हुआ।

'स्थायी तो सृष्टि में कुछ नहीं है।' देवर्षि ने बतलाया - 'ऋषिगणों के निवासलोक तो महर्लोक, जनलोक और ब्रह्मलोक (सत्यलोक) हैं। सप्तर्षि भी ब्रह्मलोक में ही रहते हैं। उनके ये अपने लोक तो उनके कार्यालय-जैसे हैं। यहाँ से वे मर्त्यलोक की कर्मधारा का निरीक्षण-नियन्त्रण करते हैं। उचित अधिकारी को विद्या-प्राप्ति की व्यवस्था प्रकट या अप्रकट रूप में करते हैं।'

'केवल एक मन्वन्तरकाल?'

'दूसरे मन्वन्तर में दूसरे सप्तर्षि स्थान-ग्रहण कर लेते हैं।' देवर्षि ने स्पष्ट किया - 'एक मन्वन्तर तक जो आधिकारिक पद पर रह चुके, उन्हें अपने तप, समाधि का - मुक्त होने का अथवा विश्राम का अवसर मिलना चाहिये।'

सुभद्र को यह सब अच्छा नहीं लगा; किन्तु सृष्टि का नियम ही है कि सर्वोत्तम अधिकारी का भी सेवाकाल होता है। उसे भी सेवा-निवृत्त होना पड़ता है।

देवर्षि ने सुभद्र को सकारण रोक दिया था। कहना यह चाहिये कि लोकों को देखते समय सप्तर्षि-मण्डल को देखने की

प्रवृत्ति उसमें-सर्वेश्वर की इच्छा से ही उत्पन्न नहीं हुई थी। जो नियम-अनुशासन में नहीं रह सकता - जिसे विवश करना भी सुगम नहीं है, उसे किसी भी कार्यालय में क्यों जाना चाहिए।

सप्तर्षि कारक पद होते हैं। इन्द्र, लोकपाल, सप्तर्षि, मनु और मनुपुत्र प्रभृति सब कारक हैं; किन्तु मनु और सप्तर्षि तो असाधारण कारक हैं। मनु को मानव-संतान की परम्परा बनाये रखने का दायित्व है और सप्तर्षियों को श्रौत-स्मार्त कर्म परम्परा बनी रहे विश्व में, इसके लिए सावधान रहना है।

'वत्स! विश्वेश्वर का विधान विचित्र है।' एक दूसरे अवसर पर सप्तर्षि उत्तानपाद राजा के पास पधारे तो अवसर पाकर सुभद्र का समाधान किया महर्षि अंगिरा ने - 'सृष्टि में सदा न सात्विकता रह पाती, न राजसिकता या तामसिकता। हम लोग अभी संचिन्त हैं कि मनुष्य कुछ बहिर्मुख भी रहे। वह प्रवृत्ति को स्वीकृति दे प्रजा की सृष्टि करे; कर्म-प्रवृत्ति की परम्परा ही सत्वगुण के उद्रेक में लुप्त न हो जाय।

भद्र ने पूछा था - 'आप सबको व्यस्तता या चिन्ता क्या है? मानव की संतान तो सहज सात्विक है। अधिकांशजन अन्तर्मुख हैं।'

'सतयुग में हमको अन्तर्मुखता चिन्तित करती है और कलियुग में मनुष्य की बहिर्मुखता।' महर्षि अंगिरा ने कहा - 'कठिनाई यह है कि ये युग बहुत शीघ्र परिवर्तित होते हैं। हमारे कार्यकाल में ही इकहत्तर बार चारों युग परिवर्तित होते हैं। कुशल यही है कि कलियुग अल्पायु है। उसकी आयु सतयुग की केवल चतुर्थांश है। हमें त्रेता निश्चिन्त रखता है। द्वापर में अल्प प्रयत्न करना पड़ता है।'

'कलि में मनुष्य बहिर्मुख बनता है?' सुभद्र को इसका अनुमान भी नहीं था। वह पहली बार चिन्तित हुआ - 'कन्हाई भी विस्मृत कर देता है उसे।'

'तुम अपने सखा का स्वभाव जानते हो।' अंगिरा ने कहा - 'मनुष्य उन्हें विस्मृत कर देता है और जो उन्हें भूल जाता है, उसके भाग्य में भटकना ही रह जाता है। लेकिन वे अपनों को कभी भूला नहीं करते।'

'हमें तो श्रुति-श्रौत कर्म-परम्परा की चिन्ता रहती है।' महर्षि मरीचि ने कहा - 'कलि में मनुष्य उसे त्याग ही नहीं देता, स्वयं उसे नष्ट करता है। कठिनाई से हम बीज बचा पाते हैं परम्परा का।'

सुभद्र को इसकी चिन्ता नहीं थी। 'कोई परम्परा बचानी होगी तो कन्हाई कुछ कर लेगा। उसे बहुत युक्तियाँ आती हैं। लेकिन कलियुग क्या कन्हाई को विस्मृत बना देता है? कन्हाई से बलवान है?' सुभद्र को एक चतुर्युगी रहना है पृथ्वी पर और उसमें अन्तिम तो कलियुग ही है। वह अपनी चिन्ता में ऐसा डूबा कि सप्तर्षि कब चले गये, यह भी नहीं जान सका।

सुभद्र को निश्चिन्त किया मनु ने। एक दिन मनु आ गये अपने पुत्र उत्तानपाद से मिलने। पुत्र का सत्कार स्वीकार करने के अनन्तर जब वे बैठे, सुभद्र पहुँच गया। मनु ने उठकर उसे प्रणाम किया कहकर - 'मैं स्वायम्भुव मनु अभिवादन करता हूँ।'

'कल्याणमस्तु!' आशीर्वाद देकर सुभद्र ने पूछा - 'मैंने प्रथम आपका यहाँ दर्शन किया है।'

'मैं सृष्टिकर्ता के ही लोक में रहता हूँ। वैसे उसके एक भाग में मेरा कार्य-स्थान है। उसे 'मनुलोक' कहते हैं।' मनु ने पूरा ही परिचय दिया - 'मानव की संतान परम्परा सुरक्षित रहे, यह दायित्व मुझे सृष्टिकर्ता ने दिया है।'

'आपके ये पुत्र प्रमाद नहीं करते।' सुभद्र ने उत्तानपाद की ओर देखा - 'इन्होंने सृष्टि को दो पुत्र प्रदान किये हैं और उनमें आपके पुत्र ध्रुव......।'

'ध्रुव-सा पौत्र पाकर मैं धन्य हुआ।' मनु ने प्रसन्न होकर कहा - 'मैं सचिन्त था कि मेरा छोटा पुत्र प्रियव्रत देवर्षि का कृपापात्र होकर सृष्टि से ही विमुख हो गया था। आज तो मैं उत्तानपाद को सूचना देने आया हूँ कि भगवान् पद्मसम्भव ने स्वयं कृपा करके प्रियव्रत को मेरु-शिखर पर दर्शन दिया। प्रियव्रत ने उनका आदेश स्वीकार कर लिया है। अब वह कुछ विलम्ब से भी विवाह करेगा तो मुझे चिन्ता नहीं है।'

'आप सर्वज्ञ हैं। मानवधर्म के प्रथमोपदेष्टा हैं।' सुभद्र ने लगभग स्तुति करके पूछा - 'क्या कलियुग कन्हाई का विस्मरण करा देता है?'

'केवल उनको, जो आपके सखा के अनादिकाल से कलि के प्रारम्भ तक बन नहीं जाते।' मनु ने स्पष्ट कहा - 'जो उनके हो जाते हैं या जिनके वे हैं, कलि उनका कुछ कर सकेगा, इसकी सम्भावना ही नहीं है। कलि हो या काल, रोग हो या मृत्यु, देवता हों या दैत्य, सबका पराक्रम काया तक ही चलता है।'

'भगवन्! धन्य हैं आप।' सुभद्र प्रसन्न हो गया - 'कुत्सित काया की क्या चिन्ता। इसे काक गृद्ध खा लें या कलि भक्षण करे।'

'मनु को तो काया की ही चिन्ता करनी पड़ती है। मानव-संतान परम्परा बनी रहे, यह मनु का दायित्व है।' मनु ने कहा।

'इसकी भी चिन्ता?' सुभद्र की समझ में बात नहीं आयी।

'आप देखते ही हैं कि मेरा पुत्र प्रियव्रत ही सृष्टि से विमुख हो बैठा था। मैं जानता हूँ कि मेरा इस विषय का अनुरोध आप स्वीकार नहीं करेंगे। सतयुग में ऐसे ही व्यक्ति अधिक हैं।' मनु ने कहा - 'आगे तो कलियुग आने वाला है।'

'सप्तर्षियों ने तो कहा कि कलियुग में लोग बहिर्मुख होंगे।' सुभद्र बोल उठा - 'बहिर्मुख लोग भोग-परायण होंगे। वे अधिक संतान नहीं उत्पन्न करेंगे?'

'उनकी बहिर्मुखता ही विपत्ति बनती है।' मनु ने कहा - 'उनकी सुखेच्छा स्पर्धा तथा संघर्ष को जन्म देती है; क्योंकि

पदार्थ तो सभी परिमित हैं और कलि में मनुष्य न संतानोत्पादन में संयम रखता, न संग्रह में। उसे अपनी बुद्धि संहारक अस्त्रों के आविष्कार में लगाना गौरव जान पड़ता है। बार-बार वह प्रकृति का संतुलन नष्ट करता है। अतः सृष्टि में असामयिक प्रलय उपस्थित हुआ करती है। मुझे अपनी संतानों का बीज भी बचाने के लिए सर्वेश्वर की कृपा पर ही अवलम्बित होना पड़ता है।'

'कन्हाई बहुत क्रीड़ाप्रिय है और नटखट है।' सुभद्र हँसा - 'कोई तो इसके कान नहीं पकड़ता।'

'वही कृपा करके कुअवसर में मेरी सहायता करते हैं।' मनु का स्वर श्रद्धा-भरित हो गया।

'आपके पुत्र प्रियव्रत कहाँ हैं?' सुभद्र ने सहसा दूसरा प्रश्न कर लिया।

'वह मेरु-शिखर पर ही था।' मनु ने कहा - 'लेकिन शीघ्र उतर आवेगा। भारतभूमि को ही राजधानी बनावेगा। आप अवश्य उसे दर्शन दें। आपका सान्निध्य उसे प्रिय लगेगा और आप भी प्रसन्न होंगे उसके पास पहुँचकर।'

मनु को सम्भव है अपने पुत्र से एकान्त में कुछ कहना हो, यह सोचकर सुभद्र ने उनसे विदा माँग ली। उत्तानपाद के पास से वह सुरसरि तट पर आया तो एक ओर चल पड़ा। ब्रह्मावर्त में पुन: उसे देखा नहीं गया। वह नित्य पथिक उसे कहाँ सूचना देने या विदा माँगने की औपचारिकता आती है। देवी सुरुचि के सेवक मध्याह्न में उसे नहीं पा सके।

प्रियव्रत के पास-

'अन्धकार क्यों?' प्रियव्रत प्रकाश की पूजा करनेवाले, उन्हें अन्धकार अत्यन्त अप्रिय था।

'तमसों मा ज्योतिर्गमय।'

यह प्रार्थना करनेवाला समर्थ होगा तो अन्धकार रहने देगा? सृष्टिकर्ता के पौत्र थे प्रियव्रत और समर्थ थे। अतः रात्रि में अन्धकार हो जाय, यह उन्हें असह्य लगता था।

शेषशायी भी तो सम्बन्ध में उनके प्रपितामह ही होते हैं। अनेक बार बड़े-बूढ़े बालक की अनुचित हठ भी पूरी कर देते हैं, जिससे बालक स्वयं सीखे। भगवान् विष्णु ने प्रियव्रत की प्रार्थना मान ली। अन्ततः प्रियव्रत एक ज्योतिर्मय रथ ही तो चाहते थे।

आप भ्रम में न पड़ें। उस समय विमान मात्र को रथ ही कहा जाता था। प्रियव्रत को कैसा विमान प्राप्त हुआ, यह आप उसके कार्य से अनुमान करें; क्योंकि उसका वर्णन करने का उपाय नहीं है।

अन्तरिक्ष में - पृथ्वी के वायुमण्डल से बाहर प्रियव्रत अपने विमान में बैठकर उसी गति से चलने लगे, जिस गति से पृथ्वी अपनी धुरी पर घूमती है। जहाँ सूर्यास्त होता था, उस स्थान में उसी समय अरुणोदय हो जाता था और दिन आने लगता था; क्योंकि प्रियव्रत का विमान सूर्य से ठीक विपरीत दिशा में पृथ्वी के दूसरी ओर रहता था।

सूर्य के समान प्रकाश और उष्णता देने वाला वह दिव्य विमान। उसमें एक ही चक्र था और उस चक्र से अन्तरिक्ष में भी परिवर्तन होता था। सूर्य से लेकर पृथ्वी तक के अन्तरिक्ष में उसके दबाव ने सात दिन के सात चक्कर में सात स्तर बना दिये। पुराण उनको 'सात समुद्र' और उनके अन्तराल को 'सात द्वीप' कहते हैं।

अन्तरिक्ष में इतना बड़ा अर्हनिश सात दिन-रात चलनेवाला यह रथ और उसका प्रलयंकर परिवर्तन - पृथ्वी पर असंख्य परिवर्तन हो रहे थे। प्राणी संत्रस्त हो गये। वनस्पति सूखने लगी। रात्रि, जो विश्राम देती है, दुर्लभ हो गयी।

'आप यह अनर्थ कब तक करते रहेंगे?' सुभद्र इसी समय पहुँचा और प्रियव्रत के रथ पर ही पहुँच गया। उसे उस समय सम्भवत: सृष्टिकर्ता की इच्छा से अव्याहतगति मिल गयी थी।

सृष्टिकर्ता भी अपने पौत्र के हठ से सात ही दिन में संत्रस्त हो उठे थे।

'सावधान!' सुभद्र ने विमान के सम्मुख पहुँचकर कहा तो स्वत: विमान का वेग रुक गया। प्रियव्रत समझ गये कि उन्हें ब्राह्मण अतिथि प्राप्त हुआ है। उन्होंने विमान में ही उनकी सविधि पूजा की।

'सृष्टिकर्ता पितामह ने मुझे संतान-वृद्धि की आज्ञा दी है।' पूजा के पश्चात् सुभद्र ने पूछा तो प्रियव्रत ने कहा - 'अन्धकार तो मृत्यु है। उसे मिटाने से पूर्व जो सृष्टि होगी, वह किस काम की होगी।'

'इसी लिये आप संहार में संलग्न हैं?' सुभद्र ने झिड़क दिया।

'संहार?' प्रियव्रत चौंके - 'अन्धकार को ही मैं मिटा रहा हूँ।'

'भगवान् विराट का ही पृष्ठदेश अधर्म है तो क्या उसे आप नष्ट कर देना चाहेंगे?' सुभद्र ने समझाया - 'प्रकाश और अन्धकार परस्पर पूरक हैं। आदित्य-मण्डल में नित्य प्रकाश है तो क्या वहाँ प्राणि-सृष्टि है या पनपेगी? आप इस अनर्थ को अभी त्याग दें।

अन्ततः आप अनन्तकाल तक अपना रथ ही दौड़ाते रहेंगे तो सृष्टिकर्ता के आदेश का कब पालन करेंगे?'

'आपकी आज्ञा का अनादर मैं नहीं कर सकता।' प्रियव्रत में आवेश था; किन्तु प्रमाद नहीं था। वे सुभद्र के साथ रथ से पृथ्वी पर उतरे तो रथ अदृश्य हो गया।

'आप नहीं जानते कि कन्हाई कितना नटखट है।' सुभद्र पृथ्वी पर आते ही सहज हो गया। उसने प्रियव्रत से कहा - 'आपने हठ किया तो उसने आपको एक खिलौना पकड़ा दिया। आपने भी नहीं सोचा कि इस विमान से आप सदा इस प्रकार परिक्रमा ही तो नहीं करते रह सकते और अनवरत प्रकाश का बना रहना प्राणियों के लिए बहुत प्रिय स्थिति भी नहीं है।'

'मुझसे प्रमाद हुआ।' प्रबुद्ध प्रज्ञा पुरुष में मूढ़ाग्रह नहीं रहने देती। प्रियव्रत को अपनी भूल समझ में आ गयी - 'मुझे सृष्टिकर्ता ने भी नहीं रोका और श्रीहरि ने भी विमान देते समय समझाया नहीं।'

'कन्हाई नटखट है, मेरी यह बात आप क्यों भूल जाते हैं?' सुभद्र हँसा - 'उसे अभिष्ट होगा यह परिवर्तन जो आपके रथ ने किया है। अतः उसने आपको अपना माध्यम बना लिया।'

'उन्होंने यदि इस तुच्छ जन को इस योग्य माना तो उनका अहैतुक अनुग्रह।' प्रियव्रत के नेत्रों में अश्रु छलक आये। 'उनकी सेवा कर सके, इतनी शक्ति और साधन जीव के समीप कहाँ। देवर्षि ने दया की मुझ पर, उनके नाते परमप्रभु ने यदि सेवा ली हो तो मेरा सौभाग्य।'

'अब आप सृष्टिकर्ता को सहयोग देने में लगें।' सुभद्र को पता नहीं क्यों परिवार-पालन के प्रपञ्च से चिढ़ है। वह कहता है कि 'कन्हाई ने इतने विवाह कर लिये, और बहुत-से कर लेगा। दूसरों को प्रपञ्च में पड़ने की आवश्यकता क्या है? सृष्टि बढ़ाने के लिए श्याम ही बहुत है; किन्तु ब्रह्माजी बूढ़े होने पर भी लोगों को बहका देने में निपुण हैं। उन्हें सबको सृष्टिकर्म में जोत देने की धुन है। अब जो पशु हैं, जुतेंगे ही।'

'आप अपनी सेवा का कुछ अवसर नहीं देंगे?' प्रियव्रत ने बहुत विनम्र होकर, बड़े आग्रहपूर्वक कहा - 'आपकी इच्छा में मैं कोई प्रतिघात नहीं उपस्थित करूँगा।'

'मेरी सेवा में तो कन्हाई कभी प्रमाद नहीं करता और आप जानते हैं कि श्याम सावधान हो तो अन्य किसी की सहायता सुयोग नहीं पा सकती।' सुभद्र ने प्रियव्रत को इतने पर भी निराश नहीं किया - 'मैं आपके पास कुछ काल रहूँगा; किन्तु मुझे गृह-कुटीर कारागार लगते हैं। अतः आप मुझे स्वच्छन्द रहने दें।'

प्रियव्रत के पास इसे स्वीकार करने के अतिरिक्त उपाय नहीं था। दूसरे उन्हें अभी अपनी राजधानी व्यवस्थित करनी थी। शीघ्र ही उन्हें विश्वकर्मा की प्रार्थना पर उनकी कन्या वर्हिष्मती का पाणि-ग्रहण कर लिया।

अपने ज्येष्ठ भ्राता उत्तानपाद के समान ही प्रियव्रत ने भी सुरसरि के तट पर ही राजधानी स्थापित की। उत्तानपाद ब्रह्मावर्त में बसे थे। प्रियव्रत ने अपनी पुरी का नाम पत्नी के नाम पर वर्हिष्मती रखा। (यह वर्तमान कासगंज है या सोरों)

सुभद्र को भी प्रियव्रत का सामीप्य उत्तम लगा। यहाँ उसे प्रतिदिन आहार के लिए भी ढूंढ़ने कोई नहीं आता था। उत्तानपाद की पुरी में यह व्यवस्था उसे बन्धन प्रतीत होती थी। यहाँ तो जब उसकी इच्छा होती थी, आ जाता था। आने पर अवश्य

राजमहिषी वर्हिष्मती उसे आग्रह करके आहार करा देती थीं; किन्तु कभी कोई नहीं पूछता था कि वह कहाँ रहता है। वह सुरसरि के तट पर, पुलिन में या वृक्षों के नीचे चाहे जहाँ बैठा रहता। कहीं सो जाता और आहार तो वृक्ष भी दे देते थे।

एक सुविधा और थी यहाँ। इस ओर बहुत अधिक गायें थीं। इतनी अधिक गायें उसे अभी कहीं नहीं मिली थीं। सुभद्र स्वभाव से गायों से स्नेह करता था। गोवत्सों से उसका सख्य था। वह गायों या बछड़ों से अपने कन्हाई की बातें करता तो भूल ही जाता था कि ये पशु उसकी बात समझते भी हैं या नहीं। वह पुलिन पर बछड़ों के साथ दौड़ता या गायों को सहलाता रहता था।

'अम्ब! मैं दूध पिऊँगा।' वह चाहे जिस सवत्सा गाय के स्तन में मुख लगाकर भरपेट दूध पी लेता था। वह मुख लगाना चाहे तो गौ पैर फैलाकर खड़ी हो जाती थी। अनेक बार गायें इस प्रकार उसके आगे आकर खड़ी हो जाती थीं, जैसे उससे दूध पी लेने का आग्रह करती हों। छोटे बछड़े तक उसे सिर से ठेलकर, अपनी माँ के स्तन में मुख लगाकर संकेत करते थे कि वह उनकी माँ का दूध उनके साथ पीये। इस सुविधा एवं गायों के मध्य रहने के सुख ने भी उसे बहुत काल तक वहाँ रोक रखा।

प्रियव्रत के दस पुत्र हुए और सबसे पीछे एक कन्या हुई। प्रियव्रत ने कन्या - ऊर्जस्वती का विवाह तो शुक्राचार्यजी से कर दिया। इसी ऊर्जस्वती की पुत्री देवयानी हुई। अपने रथ (विमान) के चक्र से विभक्त सात द्वीपों में से एक-एक द्वीप प्रियव्रत ने अपने एक-एक पुत्र को दे दिया। उस समय उन दिव्यलोक प्रायद्वीपों को भी बसाना ही था। वहाँ के शासन का अर्थ ही था कि प्रजा की स्थापना भी वहाँ की जाय।

कवि, महावीर और सवन - ये तीन पुत्र प्रियव्रत के सुभद्र के अनुयायी बन गये। इन तीनों को शैशव से सुभद्र के ही आस-पास खेलना प्रिय था। सुभद्र भी इनसे स्नेह करता था। इन तीनों ने बड़े होकर भी विवाह करना स्वीकार नहीं किया। ये भी पिता के पास तब तक रहे, जब तक सुभद्र वहाँ रहा। उसके वहाँ से जाने के पश्चात् तो ये तीनों परिव्राजक हो गये।

प्रियव्रत स्वयं जन्म से वीतराग भगवद्भक्त थे। उन्हें देवार्षि नारद का सत्संग प्राप्त हो गया था प्रारम्भ में ही। पितामह सृष्टिकर्ता की आज्ञा स्वीकार करके वे गृहस्थ हुए थे; किन्तु उनके चित्त में वैराग्य का सम्मान था। अतः तीनों पुत्रों को सुभद्र का सामीप्य मिलते देखकर वे प्रसन्न हुए थे। उन्होंने पुत्रों को प्रोत्साहित किया था।

राजमहिषी वर्हिष्मती विश्वकर्मा की पुत्री थीं। अत्यन्त व्यवहार कुशल और निर्माण-निपुणा। वस्तुतः प्रियव्रत की राजधानी तो उन्होंने बसायी। विवाह होकर आने के पश्चात् उन्होंने पुरी की कल्पना की। ठीक अर्थों में पहला नगर पृथ्वी पर वर्हिष्मतीपुरी बसा। विश्वकर्मा ने अपनी पुत्री के लिए उसकी परिकल्पना की। उसमें पक्के, अत्यन्त सुन्दर भवन बनाये उन्होंने और नगर-परिखा निर्मित की। नगर के समीप उद्यान बनाये। सरोवर निर्मित किये।

सुभद्र चला गया होता इस नगर-निर्माण के साथ वहाँ से; किन्तु प्रियव्रत के तीनों पुत्रों से उसे स्नेह हो गया था। वे कुमार भी उसके समीप ही रहते थे। उन्होंने भी नगर में जाना प्राय: छोड़ रखा था। सुभद्र कभी-कभी उनको पिता-माता का सानिध्य सुलभ कराने के लिए उनके साथ नगर में जाता था। अन्यथा वे कुमार तो गायों को दूध पीकर और भूमि-शयन से सन्तुष्ट थे।

राजमहिषी वर्हिष्मती पतिव्रता थीं - क्योंकि प्रियव्रत अपने तीन पुत्रों का विरक्त-जीवन महत्तम मानते थे, राजमहिषी ने उसमें कभी बाधा नहीं दी। वैसे अपने शासक पुत्र उन्हें प्रिय थे। इसीलिये जब अन्त में प्रियव्रत वन में तप करने जाने लगे, देवी वर्हिष्मती

पुत्रों के समीप ही रहीं। सुभद्र तो उससे बहुत पूर्व वहाँ से जा चुका था। राजकुमारों का स्नेह भी उसे बहुत काल तक नहीं रोक सका।

शुचि का सौन्दर्य बोध-

'अद्भुत है यह कन्या। सब कुसुम-संग्रह करते हैं और यह जाने कहाँ-कहाँ से कण्टक उठा लाती है।' माँ झल्ला रही थीं। स्वच्छता करते समय उनकी अंगुली में एक काँटा चुभ गया था। कोई कहाँ तक स्मरण रखे कि कांटों की टहनियाँ कहाँ-कहाँ रखी हैं। कण्टक भी कोई गृह-सज्जा की वस्तु है।

'माँ! कुसुम तो सदा एक जैसे नहीं रहेंगे और म्लान हो जायेंगे।' जैसे, तन्त्री ने मधुर झंकार की हो, ऐसे कोमल स्वर में वह बालिका बोली - 'इन कण्टकों को मैं मन के अनुरूप सजा लेती हूँ और ये म्लान नहीं होते।'

बबूल के बड़े-बड़े काँटों की सूखी टहनियों मे रंग-बिरंगी रुई से अनेक प्रकार के पुष्प बनाये थे उस बालिका ने। यह उसका व्यसन था।

'तुझे कभी पुष्प प्रिय भी लगे हैं।' पता नहीं कैसी है यह कन्या। अनेक व्यसन हैं इसके। उसमें भी प्रधान व्यसन है चित्रांकन; किन्तु कभी तो इसने किसी सुन्दर वस्तु को चित्रित किया होता। इसे निष्पत्र तरु, जराजीर्ण वृषभ, जलविरहित सरोवर

के शुष्क सरोज मिलते हैं चित्रित करने को। यह कभी अन्धड़-भग्न तरु बनायेगी और कभी तप्त ग्रीष्म में किसी शिलातल से चिपका भुनगा।

'माँ! मैं आज मनुष्य का चित्रण करूँ?' बालिका ने पीछे से माता के गले में हाथ डाल दिये। माता से ही तो स्नेह पाना सम्भव है। पिता में श्रद्धा की जा सकती है; किन्तु वे तो कदाचित ही कभी पूरे दिन सुलभ होते हैं। उन्हें ध्यान-तप से कहाँ अवकाश है।

'तू मनुष्य में मेरा चित्रण करेगी या अपने पितृचरण का?' माता ने सस्नेह पूछा।

'तुम तो सम्मुख हो और पितृचरण ध्यानस्थ प्रतिमा जैसे लगेंगे।' बालिका ने मुख बनाया - 'सरिता के समीप जो रह रहा हैं...।'

'उनका धमनि-संतत शरीर तुझे चित्रित करने योग्य लगता है?' माता हंस पड़ी - 'तू किसी सुन्दर युवा को चित्रित करने योग्य माने तो मैं तेरे पितृचरण से प्रार्थना करूं कि वे उसी को तुझे प्रदान कर दें।' माता ने कुछ हँसकर कहा; किन्तु सचमुच यह उनकी चिन्ता है। उनकी यह अल्हड़ शुचि सयानी हो गयी है और

सचमुच युवा सरलता से मिलते नहीं। कोई ऋषिकुमार इसके मन को आकृष्ट करे तो उनसे प्रार्थना भी की जाये; किन्तु यह तो अपनी तूलिका के साथ तल्लीन रहती है और चित्रांकन के लिये भी कैसे-कैसे विचित्र विषय चुनती है।

'माँ!' बालिका ने माता का मुख अपनी हथेली से ढक दिया। उसके स्वर में रोष था। उसका मुख अरुण हो उठा था।

'नारायण!' सहज उटज-द्वार से मेघ-गम्भीर स्वर आया। गृहस्वामिनी हड़बड़ा उठीं। शीघ्र वे द्वार पर पहुँची और जब अतिथि ने देखते ही 'सावधान' कहा, उन्होंने भूमि पर मस्तक रखकर अभिवादन किया।

'भगवन्! यह भी ब्राह्मण का ही आवास है।' गृहस्वामिनी ने हाथ जोड़कर निवेदन किया - 'मैं धन्य हुई। श्रीहरि की असीम कृपा ने आज अतिथि की सेवा का सौभाग्य दिया।'

'शुचि! अर्घ्य उपस्थित कर!' तनिक मुख पीछे उटज की ओर करके उन्होंने अपनी पुत्री को पुकारा। उनको पता नहीं था कि पुत्री तो उनकी पीठ से लगभग सटी, सिकुड़ी खड़ी है।

'लाई अम्ब!' वह उटज में भाग गयी। अतिथि उस पाटलवर्णी सुकुमार बालिका को देखता रह गया।

'अम्ब! मैं सुभद्र।' अतिथि किञ्चित हतप्रभ बोला - 'अत्यन्त अल्पायु में पिता ने शरीर त्यागा। मातामह से सुना है कि मैं मरीचि गोत्रीय हूँ।'

'वत्स! ब्राह्मणकुमार का तेज ही उसका पर्याप्त परिचय है।' अम्ब सम्बोधन ने गृहस्वामिनी को उल्लसित कर दिया था - 'गृहपति सरिता के समीप शिलातल पर समाहित आसीन हैं। तुम अर्चा-ग्रहण करके विश्राम करो। मैं उनको उत्थित करने का प्रयत्न करूंगी।'

'इसकी आवश्यकता नहीं होगी।' सुभद्र ने सहज कहा - 'मैं उनके स्वयं दर्शन करूँगा और मैंने अनुभव किया है कि मेरी प्रणति ऋषिगणों को समाधि से जाग्रत कर देती है। इसीलिये मैं बहुधा दूर से प्रणाम करके प्रस्थान कर देता हूँ। साधक की समाधि में विघ्न बनना तो उत्तम बात नहीं है।'

'अतिथि की अर्चना करो!' शुचि को उसकी माता ने आदेश दे दिया। उटज-द्वार पर उन्होंने अर्घ्य देकर अतिथि को अन्दर

लाकर आसन दिया था; किन्तु उनके करों से पाद्य स्वीकार करने में सुभद्र संकुचित हो रहा था। अतः यह भार माता ने शुचि पर डाला और स्वयं अतिथि के आहार की व्यवस्था में लग गयीं।

'आप!' शुचि ने बड़ी कठिनाई से कहा। पाद्यार्पण के पश्चात अतिथि के भाल को चन्दन-चर्चित करते उसके कर कम्पित हो रहे थे। उसका शरीर स्वेद-स्नात हो रहा था।

'स्वर्णा, तुम यहाँ शुचि हो; किन्तु अभी सतयुग है और सुभद्र को चतुर्युगी पृथ्वी पर पूरी करनी है।' संकोचहीन होकर उसने स्पष्ट कहा-'कन्हाई के समीप तुम सबको समेटते ही जाना है; पर अभी बन्धन मत बनो। मेरे और भी प्रतिबिम्ब पृथ्वी पर पड़े हैं।'

'कम-से-कम इस जीवन में मैं अपनी कला को ही अर्पिता बनी रहूँ, यह आज्ञा दे दीजिये।' शुचि ने मस्तक झुका लिया। उसके दीर्घ दृगों सें अश्रु झरने लगे थे।

'तुमने स्वयं शाप स्वीकार कर लिया था।' सुभद्र धीमे स्वर में ही बोला - 'उसे सार्थक होना चाहिये; किन्तु इस जन्म में तुम स्वतन्त्र हो।'

शुचि को वरदान देकर सुभद्र को लगा कि वह स्वयं किसी अज्ञात दायित्व से मुक्त हुआ है।

'यह मेरी एकमात्र संतति है।' सुभद्र जब आहार-ग्रहण कर चुका, गृहस्वामिनी ने अपनी कन्या का परिचय देना प्रारम्भ किया। 'इसमें केवल एक दोष है - चित्रांकान।'

'यह तो कोई दोष नहीं है।' सुभद्र इस चर्चा में कोई रुचि नहीं ले रहा है; यह शुचि ने तो लक्षित कर लिया; किन्तु उसकी माँ उत्साह में थीं। शुचि अब किञ्चित मुखर बन चुकी थी। उसका संकोच समाप्त हो गया था। अतः उसी ने माता का प्रतिवाद किया।

'तू अतिथि को अपने चित्र दिखलाने का साहस करेगी?' माता चाहती थीं कि उनकी कन्या स्वयं चित्र दिखलावे। यह भी आशंका थी कि माता यह प्रयत्न करें तो पुत्री रूठेगी, प्रतिरोध करेगी।

'लो देख लो आप।' शुचि लगभग अपना पूरा संग्रह ही उठा लायी। उस समय न कागज था, न ब्रश थे और न आज के रंग थे। शुचि ने बाँस की टहनियाँ कूटकर ब्रश बनाये थे, कुछ ब्रश उसने कहीं से अश्व की पूंछ के बाल प्राप्त करके बनाये थे। उसके रंग भी

विचित्र थे। हल्दी, गेरू, पके नागफनी के फल, कुछ पुष्पों के रस। भूर्जपत्र पर अथवा सूखे ताड़पत्र पर बने थे वे चित्र।

'साधु!' देर तक चित्रों को तन्मय देखता रहा सुभद्र। अन्त में जब उसने सिर उठाया और प्रशंसा की दृष्टि से शुचि की ओर देखा, उस बालिका ने अपना लज्जारुण मुख झुका लिया। 'कोई नहीं कह सकता कि यह है किसी रजत श्मश्रु जरठ की कृति नहीं है।'

'यह ऐसे ही अटपटे अंकन करती है।' माता ने कहा - 'पता नहीं क्यों, इसे दूसरों को प्रिय लगते हैं वे पदार्थ और दृश्य अंकन के योग्य ही नहीं लगते।'

'अन्तर में इतनी उदासीनता और असहाय व्यथा तुम्हारे क्यों है?' सुभद्र ने शुचि से कह तो दिया; किन्तु समझता था कि यह प्रश्न उसे नहीं पूछना चाहिये।

'कहाँ? आप माँ से पूछ लीजिये, मैं तो प्रसन्न ही रहती हूँ।' शुचि ने प्रतिवाद किया।

सुभद्र कैसे कहे कि संसार में अपने को सुप्रसन्न दिखलाना एक बात है और अन्तर में उल्लसित रहना उससे सर्वथा भिन्न बात है। व्यक्ति वह नहीं है, जो अपने को दिखलाता है। व्यक्ति वह भी नहीं है, जो दूसरे उसे जानते हैं। व्यक्ति वह है, जो एकांत में अपने अन्तर में है।

'तुम कन्हाई का स्मरण करो! वह आनन्दघन है।' माँ तनिक उठ गयीं तो सुभद्र को शुचि से कहने का अवसर मिला। 'उसे प्रेम करो तो.....।'

'अब ऐसी बात तो मत कहो।' शुचि ने अत्यन्त स्नेह एवं आत्मीयता के स्वर में अनुरोध किया - 'देवर को स्मरण नहीं करना पड़ता। वे हैं ही ऐसे कि उन्हें कोई एक बार स्मरण करके फिर भूल नहीं सकता और स्नेह तो उनका स्वत्व है। आपको स्मरण किया जाय और वे साथ स्मृति में ना आवे, यह बनेगा?'

'केवल उसी का स्मरण करो!' सुभद्र ने कहा - 'मुझे विस्मृत करके सुखी होगी। पथिक एक दिन को आया, रात्रि से पूर्व चला जायगा।'

'वत्स! तुम आज अभी से जाने की बात क्यों करते हो?' शुचि की माँ ने सुभद्र की बात का अन्तिम अंश सुन लिया है था - 'अभी सायं इसके पितृचरण को उत्थित करके उनका आशीर्वाद लो और उनकी इस कन्या को.....।'

'अम्ब! मैं अपने पिता की एकमात्र संतान हूँ।' सुभद्र कहकर संकुचित हो गया। जिस कन्या के कोई भाई न हो उसका पुत्र अपने पिता के गोत्र का न होकर मातामह के गोत्र का हो जाता है, यह मर्यादा तो ठीक है; किन्तु इस सत्य को सम्मुख रखकर शुचि को अस्वीकार करने का जो बहाना बनाया गया, बहुत अप्रिय पद्धति लगी सुभद्र को। वह स्वयं संकुचित होकर मौन रह गया।

'वत्स! हम आग्रह नहीं करेंगे।' शुचि की माता नें कोई क्षोभ प्रकट नहीं किया। उन्होंने शालीनतापूर्वक ही कहा - 'तुम्हारा सोचना उचित है। जन्मदाता के गोत्र का संरक्षण प्रथम कर्तव्य होना चाहिये।'

'अम्ब! उसकी भी आशा मुझ से नहीं है।' अब सुभद्र अपने अप्रिय कह गये सत्य को सँभालने लगा - 'मेरी रुचि न ध्यान में है, न तप में और न मैंने अध्ययन किया। उटज की भित्तियाँ भी मुझे

बन्धन प्रतीत होती हैं। कहीं एक स्थान में रुके रहना मुझे स्वीकार नहीं है। अतः प्राय: यात्रा में रहता हूँ।'

'जन्मजात अवधूत होते हैं, ऐसा सुना तो है।' श्रद्धासहित उस विप्रपत्नी ने हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया - 'हमारा सौभाग्य कि तुमने हमें आतिथ्य का अवसर दिया। यदि गृहपति को भी दर्शन दे जाते।'

'उनकी समाधि में व्याघात बनना उचित नहीं होगा।' सुभद्र ने कहा - 'उसका कोई प्रयोजन नहीं है अम्ब।'

'यदि इस ओर से कभी पुन: आगमन हो.....।' शुचि की माता का स्वर भर आया। उन्हें इस युवा अतिथि से स्नेह हो गया है। लेकिन ऐसे अनुरोध की कोई सार्थकता नहीं, यह वे समझ रही थीं।

सुभद्र विदा हुआ। जब तक दीखता रहा, माता के साथ खड़ी शुचि साश्रुनेत्र देखती रही। अब क्या वह अपने ढंग के चित्रांकन फिर कर पावेगी?

पृथु का प्रयत्न-

अवर्षण ने सतयुग के समाज को अस्त-व्यस्त कर दिया। धर्म का सम्पूर्ण पालन हो तो प्रकृति का संतुलन बना रहता है; किन्तु किञ्चित् भी व्यक्तिक्रम होने पर वह संतुलन बिगड़ता है और जब प्रकृति का संतुलन बिगड़ेगा, कहीं-न-कहीं विपत्ति भी आवेगी।

राजर्षि अंग का पुत्र वेन अत्याचारी बन गया। उसने यज्ञादि बंद करा दिये त्रेता के प्रारम्भ में ही। घोषणा कर दी कि केवल उसी की अर्चा की जाय, उसी को उपहार अर्पित हों। ऋषियों के क्रोध ने वेन को तो नष्ट कर दिया; किन्तु दस्यु बढ़ गये। जब शासक स्वार्थी बना तो प्रजा में स्वार्थ कैसे नहीं जागता।

वेन के शरीर के मन्थन द्वारा ऋषियों ने पृथु को प्रकट किया और उन्हें राजा बनाया; किन्तु तब तक प्रकृति का संतुलन बिगड़ चुका था। अवर्षण से अकाल पड़ा और प्रजा संत्रस्त हो गयी।

तब तक मनुष्य ने संग्रह नहीं सीखा था। विपत्ति के लिए बचाना आया नहीं था उसे। लोग स्वच्छन्द चाहे जहाँ रहते थे। बीज पृथ्वी में बिना जोते डाले और समय पर एकत्र कर लिया। अब अवर्षण से बीजों के अंकुर ही सूख गये। वृष्टि नहीं हुई तो

कन्द, फल भी कम हुए। प्रजा आहार के अभाव में व्याकुल हो उठी। पृथु के पास पुकार करे प्रजा, दूसरा उपाय नहीं था।

पृथु के प्रचण्ड पराक्रम ने पृथ्वी देवी को भी भयभीत कर दिया। वे स्वयं प्रकट होकर अपने दोहन की विधि निर्दिष्ट कर गयीं। पृथु भू-दोहन में लग गये। उन्होंने पूरी प्रजा को उद्योग में लगा दिया।

अथक उद्योग चलने लगा पृथु का। सबसे बड़ा उद्योग पृथ्वी को समतल करने का। अब तक तो पृथ्वी कदाचित् ही कहीं थोड़ी समतल थी; किन्तु पृथु ने कृषि की पद्धति प्रचलित की तो समतल क्षेत्र आवश्यक हुए।

अनेक पर्वतों को, जो मैदान क्षेत्र में थे, पृथु ने समाप्त ही कर दिया। अपने दिव्यास्त्रों का उपयोग करन में हिचके नहीं। इस उद्योग में वन का बड़ा भाग अवश्य नष्ट हुआ; किन्तु अधिक अतिवन (कण्टकवन) ही काटे गये।

सिंचाई की व्यवस्था तब भी बनी नहीं थी। केवल यह ध्यान रखा गया कि वर्षा का जल बह ही न जाय, खेतों को सींचता भी

जाय। ऊँचे स्थल समतल हुए और नाले कम किये गये। उस समय इतना भी बहुत अधिक था।

कृषि के लिए सहयोग आवश्यक है। पृथु को लगा कि अकाल के समय प्रजा की रक्षा के लिए राजा के समीप संग्रह चाहिये। यह संग्रह प्रजा से ही प्राप्त करना था। अतः कर की व्यवस्था बनी और यह भी आवश्यक हुआ कि लोग एकत्र बसें।

पृथु के सम्मुख प्रियव्रत की पुरी बर्हिष्मती का आदर्श था। उन्होंने नगर, ग्राम बनाने प्रारम्भ किये। उस समय के शब्दों में नगर, पुर(कस्बे), ग्राम, खेट (बहुत छोटे ग्राम), खर्वट (फूस की कुछ झोपड़ियाँ), बाटी (पशु-पालकों के स्थायी निवास) बसाये गये।

द्वापरान्त तक राजकीय कर की व्यवस्था बहुत सीधी थी। उत्पादन का षष्ठमांश समीप के जलाशय के तट पर रख दिया जाता था। राजसेवक स्वयं उठा ले जाते थे।

पृथु सच्चे अर्थ में प्रथम राजा थे। उन्होंने राजधानी बनायी ब्रह्मावर्त में। जब बस्तियाँ बनीं, वर्ण-व्यवस्था सुदृढ हो गयी। कृषिजीवी होने के साथ वैश्यों ने वस्तु-विनिमय प्रारम्भ किया।

सेवकों की आवश्यकता पड़ी। पृथु ने सेना बनायी। नगरों के बालकों के शिक्षण के लिए ब्राह्मणों ने समीप के वनों में ऋषिकुल चलाना प्रारम्भ किया।

सुभद्र ने पहुँच कर 'सावधान' कहा तो सम्राट पृथु सिंहासन से उठ खड़े हुए। उन्होंने अत्यन्त आदरपूर्वक अर्चना की सुभद्र की।

'आपने तो पृथ्वी को ही परिवर्तित कर दिया।' सुभद्र अपने अनुभव की बात कह रहा था। उसने इधर यात्रा में बसे नगर, ग्राम देखे थे। बहुत अधिक धरातल समतल हो चुका था।

सुभद्र को लगा था कि अब यात्रा अधिक सुविधापूर्वक तो हो गयी है; किंतु सुगम नहीं है। वन कम हो गये हैं और यदि खेत न भी हों तो उद्यान बढ़ गये हैं। उद्यान के वृक्षों पर तो किसी-न-किसी का स्वामित्व होता है। उनके फल उनके स्वामी की अनुमति के बिना ग्रहण करना चौर्यकर्म होगा। दूसरी ओर नगर, ग्राम ही नहीं, खर्वट या बाटी भी पथ में पड़ती हो तो वहाँ के लोग आतिथ्य का बहुत अधिक आग्रह करते हैं। इस प्रकार यात्रा में अवरोध बहुत हो गया है।

'धरा को मैंने पुत्री स्वीकार कर लिया है।' पृथु की पुत्री होने से ही तो इसका नाम पृथ्वी पड़ा। 'अब पुत्री को सज्जित करने का भी तो दायित्व पिता का ही है।'

'तब आप इसका दान भी करेंगे।' सुभद्र हँसकर बोला - 'बड़ा कठिन होगा उर्वी के लिए सुयोग्य वर का अन्वेषण।'

'कठिन क्यों होगा प्रभो?' पृथु ने हाथ जोड़कर बहुत नम्रतापूर्वक कहा - 'इसे उर्वरा बनाने के प्रयत्न में हूँ। ऐसा करके इसे श्रीहरि को समर्पित कर दूँगा। वे जनार्दन ही तो विश्वरूप हैं। इन असंख्य जनों के रूपों में वे ही इसके सच्चे स्वामी हैं।'

जनता जनार्दन है और वही सचमुच भूपति है। आदिराज पृथु की ही बात ठीक है कि राजा तो भूमिपाल है - पृथ्वी का पिता। उसे अपनी यह उर्वी उर्वरा बनाकर जनता-जनार्दन को अर्पित कर देना है। इस तथ्य को काश विस्मृत न किया गया होता।

'आपने सबके लिए आवास की व्यवस्था की, आजीविका निश्चित की।' सुभद्र बहुत प्रभावित हुआ था पृथु से - 'हम जैसों के लिए भी आपने कोई मर्यादा निश्चित की हो तो मैं उससे अनभिज्ञ हूँ।'

'मैं ब्राह्मणों का दास हूँ।' पृथु ने चरण पकड़ लिये - 'मर्यादा निश्चित करना महर्षियों का दायित्व है। क्षत्रिय तो उस मर्यादा का पालन करता है और अपनों से तथा वैश्य, शूद्र-वर्ग से उसका पालन कराने में सहायक बनता है। संकट में प्रजा की सहायता करना, प्राण देकर भी प्राणियों की रक्षा करना क्षत्रिय का दायित्व है। आप आशीर्वाद दें कि मुझसे अपने इस कर्तव्य में प्रमाद न हो।'

'मैंने सुन लिया है कि आपको स्वयं श्रीहरि ने आशीर्वाद दिया है।' सुभद्र ने पृथु को बलपूर्वक अपने पदों से उठाया - 'प्रमाद आपके अन्त:करण का स्पर्श करने में असमर्थ है।'

'मैं आपके आशीर्वाद से अनुगृहीत हुआ।' पृथु ने प्रार्थना की - 'यदि आप कहीं आश्रम स्वीकार करें......।'

'राजन्! आप पर असंख्य ऋषियों का अनुग्रह है।' सुभद्र ने शीघ्र पिण्ड छुड़ाना ठीक समझा। उसे लगा कि यदि पृथु ने बहुत आग्रह किया तो इनकी अवज्ञा कठिन होगी। 'मुझ-जैसे कुछ पर्यटक बने रहें तो आपके राज्य की कोई व्यवस्था बिगड़ेगी नहीं।'

'इससे तो व्यवस्था अधिक सुदृढ बनी रहेगी।' पृथु ने सत्य को स्वीकार किया - 'स्वार्थहीन श्रीहरि के जन अपने पर्यटन से पृथ्वी को पुनीत करते रहेंगे तो प्रजा में शील, संयम का संचार होता रहेगा। विकृतियाँ और बहिर्मुखता स्वतः विनष्ट होती रहेगी। हरिभक्ति बढेगी।'

पृथु का बहुत आग्रह था कि सुभद्र उनके समीप ही न भी रहे तो भी अधिक दिनों तक आतिथ्य का अवसर दे और बार-बार यह अवसर आवे।

सुभद्र इनमें से कोई प्रार्थना स्वीकार करना नहीं चाहता था। उसने पृथु का आतिथ्य अल्प दिनों में ही त्याग दिया। पृथु भगवद्भक्त थे, संयमी थे, शीलवान थे और सेवा-तत्पर थे; किन्तु बहुत व्यस्त रहनेवाले व्यक्ति थे। उन आदिराज ने अपना जीवन ही प्रजा के लिए समर्पित कर रखा था। उनकी स्थिति बहुत बड़े परिवार के प्रमुख से भी अधिक व्यस्त थी। प्रजा के सब लोग उन्हें अपना पिता मानते थे और पृथु को सबका सत्कार करना था। सबकी समस्याएँ सुलझानी थी। सबकी छोटी-बड़ी सब समस्याएं उनके सम्मुख आती थीं। वे इतने स्नेहमय कि किसी की सामान्य समस्या को भी उपेक्षणीय मानते ही नहीं थे।

आपने अपने बालकों की समस्याओं पर ध्यान दिया है? उनके घरौंदों और खिलौनों को लेकर उनकी समस्याएं थोड़ी होती हैं? यह ठीक है कि सतयुग का लगभग संधिकाल ही था। मनुष्य संतुष्ट रहने वाला, विकारहिन, अपरिग्रही-प्राय था; किन्तु कृषि का अभी-अभी प्रारम्भ हुआ था। नगर -ग्राम अभी बस ही रहे थे। अतः प्रजा की समस्याएं बहुत थी। सबको पृथु को ही अपनी बात कहनी थी और पृथु को उन्हें सुलझाते रहना था।

पथ को लेकर, पानी के प्रवाह को लेकर, पड़ोसियों के प्रतिकूलाचरण को लेकर, पशुओं के संचरण की सुविधा को लेकर, वन-पशुओं के व्यवहार को लेकर क्या आज भी समस्याएँ नहीं उठती?

उस समय लोग अधिक सहिष्णु थे, यह सच है; किन्तु मनुष्य की सहिष्णुता भी सीमित है। दूसरी बात यह कि स्वार्थ ही विवाद उत्पन्न नहीं करता, धर्म और त्याग भी विवाद उत्पन्न कर देता है। भारत वह धन्य देश है, जिसमें त्याग और धर्म अभी कुछ शती पूर्व तक विवाद उठाया करते थे।

किसी की गाय ने दूसरे का खेत चर लिया। आज के विवाद का रूप आप जानेते हैं। उस समय का विवाद भिन्न था। जिसका

खेत गाय ने चरा, वह गाय के स्वामी के समीप कुछ अन्य अन्न या तृण लेकर आया है। वह कहता है - 'गोमाता ने अनुग्रह मेरे क्षेत्र में आहार-ग्रहण किया। उनको दक्षिणा मैं उस समय नहीं दे सका। आप इसे स्वीकार करें, यह धर्म का आदेश है।'

गो-स्वामी कहते हैं - 'मेरे प्रमाद से मेरा पालित पशु आपके क्षेत्र तक पहुँचा। आपको जो हानि हुई, उसे स्वीकार करना पड़ेगा।'

विवाद तो ऐसे उठ खड़े होते थे कि एक गौ ने किसी अन्य के उद्यान में बछड़ा दे दिया तो बछड़ा उद्यान के स्वामी का - यह गो-स्वामी तर्क देने लगता था और हठ करता था।

वर्षा का जल किसी की मेड़ तोड़ कर दूसरे के खेत में भर गया। इससे दूसरे के खेत का धान सूखने से बच गया। सामान्य रूप से मेड़ न टूटे तो कदाचित धान कम होता। आप क्या निर्णय देंगे यदि उस धान का स्वामी विवाद उठावे - 'इसमें पूरा या आधा स्वत्व उसका, जिसकी मेड़ तोड़कर जल आया था?'

ऐसे असंख्य विवाद उठते ही रहते थे। पृथु को इन्हें स्नेहपूर्वक सुलझाना था। समस्याओं को दूर करना था। बहुत

अधिक भूमि समतल की जा रही थी। कार्य-व्यस्तता; किन्तु सब श्रीहरि की आराधना। किसी में साहस है, जो कह देगा कि पृथु का सम्पूर्ण जीवन, प्रत्येक श्वास आराधनामय नहीं था?

लेकिन सुभद्र को यह सत्त्वात्मिका क्रियाशीलता भी अपने अनुकूल नहीं पड़ती थी। क्रियाशीलता रजोगुण है। वह सत्वोन्मुख हुई तो पतन प्रदान नहीं करेगी; किन्तु प्रत्येक स्थिति में उसकी परिणति श्रान्ति में है। सुभद्र को क्रियाशीलता में ही रुचि नहीं। वह चाहे तो पड़ा रहनेवाला या केवल पर्यटन करते रहनेवाला है। अतः पृथु का सामीप्य उसे अनुकूल नहीं पड़ा। वह वहाँ से शीघ्र चला गया।

पुरुरवा का प्रश्रय-

अमृतपुत्र सुभद्र - मरण उसका स्पर्श नहीं करता; किन्तु केवल मृत्यु ही तो कष्टकर नहीं है। इसमें तो विवाद है कि मरण में कष्ट है भी या नहीं; लेकिन उससे कई-गुनी कष्टकर परिस्थिति बना करती हैं। यह तो आनन्दकन्द कन्हाई है कि अपनों के लिए सदा छाया बना रहता है। स्वजनों को दुःखों से बचाये रहने को सचिन्त रहता है। संयोग उसके संकेत की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

नैमित्तिक प्रलय तो निमित्त उपस्थित होने पर होगी ही। सुभद्र उन्हें रोक सकता था? किसी प्रलय में पड़ जाता - उसका अमरत्व कितना कष्टकर बनता उसके लिए; किन्तु प्रलय तो दूर, उसने प्रथम कल्प का द्वापर भी नहीं देखा। सहसा देवर्षि मिल गये उसे।

'आप कहाँ जायँगे?' सुभद्र ने प्रणाम करके पूछ लिया। प्रयोजन कोई नहीं था; किन्तु युवा होने पर भी सुभद्र के स्वभाव में जो बचपन बस गया है, वह जाता तो है नहीं।

'क्षीराब्धिशायी के समीप।' देवर्षि ने सहज कहा - 'तुम चलोगे?'

'हाँ, अम्बा सिंधु-सुता को प्रणाम करूंगा।' सुभद्र को कुछ सोचना नहीं था। पृथ्वी पर ऐसा कहीं कुछ नहीं था, जिसके सम्बन्ध में सुभद्र को सोचना पड़ता।

देवर्षि कभी साथ लेते भी हैं तो गन्धर्वराज तुम्बुरु को अथवा किसी महर्षि को; किन्तु सुभद्र को उस दिन उन्होंने साथ ले लिया। अब भले सुभद्र का शरीर पार्थिव हो, देवर्षि का देह तो दिव्य है। वैसे सतयुग में मानव भी समर्थ था सूक्ष्मलोकों में पहुँच जाने में।

क्षीरोदधि, भगवान् शेषशायी और भगवती श्री सुभद्र के लिए अपरिचित नहीं थीं; किन्तु देवर्षि वहाँ केवल स्तुति करने मात्र के लिए रुके। चलते समय उन्होंने सुभद्र को भी साथ चलने का संकेत कर दिया।

'मैं तुम्हे पृथ्वी पर कहाँ छोड़ दूं?' देवर्षि ने मार्ग में ही पूछा।

'पृथु के समीप तो मैं जाना नहीं चाहता।' सुभद्र सोचने लगा।

'पहुँच भी नहीं सकते।' अब देवर्षि ने उसे बतलाया - 'पहले तो तुम्हारे सखा ने तुम्हारे साथ एक अद्भुत काल कर दिया था।

वह अन्य लोकों के काल से असंतुष्ट था। दूसरे काल ही उससे पिछड़ते गये; किन्तु अब तो ऐसी सुविधा तुम्हें प्राप्त नहीं है।'

'इससे अन्तर क्या पड़ा?' सुभद्र चौंक गया था।

'भगवान् विष्णु के एक दिन में सृष्टिकर्ता की समस्त आयु समाप्त हो जाती है।'[3] देवर्षि ने कहा - 'उन उदधिशायी की स्तुति करने में मैं भूल ही गया था कि समय कितना बीत गया। विलम्ब हुआ मुझे।'

सुभद्र अब भी कुछ समझ नहीं सका। वह देवर्षि की ओर देखता रह गया।

'सृष्टिकर्ता का प्रथम दिन था, जब तुम पृथ्वी पर थे। उस प्रथम दिन का भी प्रथम मन्वन्तर और उसका भी प्रथम सतयुग ही समाप्त हुआ था। तुम्हें स्मरण होगा कि वह स्वायम्भुव मन्वन्तर था।' देवर्षि ने कहा - 'अब तो पूर्व परार्ध भी व्यतीत हो चुका। अर्थात सृष्टिकर्ता की आयु के पचास वर्ष बीत गये। द्वितीय परार्ध

---

[3] विभिन्न लोकोंके कालका वैविध्य-कहाँका दिन कितना बड़ा, इसका वर्णन‘पलक झपकते’ में किया गया है।

के प्रथम वर्ष का है तो यह प्रथम कल्प; किन्तु इस कल्प के भी ६ मन्वन्तर बीत चुके हैं। पृथ्वी पर तो इससे पूर्व के चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में प्रलय भी हो चुकी।'

'मुझे तो धरा पर चतुर्युगी व्यतीत करने का शाप मिला है।' सुभद्र सचिन्त हुआ।

'क्या अन्तर पड़ता है' देवर्षि खुलकर हँस पड़े - 'आवश्यक तो नहीं है कि एक मन्वन्तर की ही चतुर्युगी तुम धरा पर देखो। स्वायम्भुव मन्वन्तर का सतयुग तुम धरा पर व्यतीत ही कर चुके, अब वैवस्वत मन्वन्तर के त्रेता का प्रारम्भ हो रहा है पृथ्वी पर। मैं तुम्हें उसके प्रवर्तक पुरूरवा के पास पहुँचा देता हूँ।'

'पुरूरवा?' सुभद्र को मिलने से पहले कुछ परिचय पा लेने की इच्छा हुई।

'वैवस्वत मनु के एक कन्या हुई - इला। वह भी यज्ञ करने पर; किन्तु वसिष्ठ ने उसे अपने तपोबल से पुरुष बना दिया। वह सुद्युम्न बना तो सही; किन्तु उसका पुरुषत्व टिका नहीं।' देवर्षि ने संक्षिप्त परिचय दिया - 'भगवान् शिव के द्वारा प्रशप्त पुरुष-प्रवेश-वर्जित

इलावर्त में प्रमादवश प्रवेश करके सुद्युम्न फिर इला हो गया। इला से चन्द्रपुत्र बुध ने विवाह कर लिया। उन्हीं का पुत्र है - पुरूरवा।'

'सृष्टिकर्ता के मानस-पुत्र महर्षि अत्रि के ये महोदय प्रपौत्र हैं।' सुभद्र का स्वभाव सम्बन्धों पर अधिक ध्यान देना है।

'वैसे तो सृष्टिकर्ता स्वयं भी श्रीहरि के नाभिपद्म-समुद्भव हैं।' देवर्षि ने दूसरा सम्बन्ध सुझाया - 'तुम्हें स्मरण होगा कि शशि भी सिंधु-समुद्भव हैं। वह अत्रि-पुत्र तो इस कल्प में बना।'

हम आप 'चन्दा-मामा' इसीलिये कहते हैं, क्योंकि चन्द्रमा माता लक्ष्मी का भाई है। लेकिन चन्द्रमा के पौत्र पुरूरवा तक सम्बन्ध खींचने में सुभद्र को कोई विशेषता नहीं लगी।

देवर्षि ने सुभद्र को पृथ्वी पर भारतवर्ष में (तबका नाम अजनाभवर्ष) में प्रयाग के पास छोड़ने से पूर्व पुरुरवा का प्राय: पूरा परिचय दे दिया था। यहाँ उसका संक्षिप्त देना ठीक होगा।

सुरसरि के तट पर प्रयाग के समीप पुरुरवा ने अपनी राजधानी स्थापित की थी। प्रारम्भ में ही पत्नी के रूप में उसे अप्सरा-श्रेष्ठ उर्वशी मिल गयी थी; किन्तु उर्वशी तो स्वर्ग की

सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। शाप के कारण भले धरा पर आयी, उसे इन्द्र यहाँ तो नहीं छोड़ सकते थे। पुरुरवा को कई पुत्र प्रदान करके वह पुनः स्वर्ग चली गयी तो उसके वियोग में पुरुरवा पागल हो गया।

उर्वशी को अपने इस मानव-पति पर दया आ गयी। उसने युक्ति बतलायी। एक अग्निपात्र भी दिया; किन्तु पुरुरवा उस पात्र को प्रमादवश वन में छोड़ आया। सावधान होने पर ढूंढ़ने गया तो वह पात्र मिला नहीं। वहाँ शमी वृक्ष में उगा पीपल मिला। पुरुरवा ने उस शमी और पीपल की अरणि बनाकार मन्थन करके अग्नि उत्पन्न किया। उस अग्नि में सविधि हवन करके वह उर्वशीलोक - स्वर्ग का अधिकारी बना।

सुभद्र जानता था कि वेद नित्य हैं। यज्ञ नित्य हैं। स्वायम्भुव मन्वन्तर में वेन ने 'न यष्टव्यं न दातव्यम्' के द्वारा यज्ञ तथा दान का निषेध किया और ऋषियों के क्रोध की आहुति बना। उसके बाद पृथु ने यज्ञ का प्रचार किया। स्वयं सौ अश्वमेध यज्ञ किये।

वैवस्वत मन्वन्तर के सतयुग में भी सम्पूर्ण वेद था। यज्ञ होते थे; किन्तु यज्ञ निष्काम होते थे। सम्पूर्ण वेद ही श्रीहरि की आराधना - संतुष्टि का साधन माना जाता था।

पुरूरवा प्रथम व्यक्ति था, जिसने अरणि में अपनी और उर्वशी की भावना की। अरणि-मन्थन से उत्पन्न अग्नि को अपना पुत्र मानकर उसे 'पुरुरवस्' संज्ञा दी। इस प्रकार अग्नि भी वैयक्तिक बन सकता है, इस विश्वास का प्रचलन किया।

पुरुरवा प्रथम व्यक्ति था, जिसने सकाम यज्ञ किया। वैदिक यज्ञ से लौकिक कामनाएँ भी पूरी की जा सकती हैं, इस बात का आदर्श उपस्थित किया। भले इसका फल हुआ कि मनुष्य बहिर्मुख बना। वेदों का प्रयोग कामना-पूर्ति के अनुष्ठानों में होने लगा।

पुरुरवा प्रथम व्यक्ति था, जिसके कारण 'वेदत्रयी' नाम पड़ा। उससे पूर्व तो सम्पूर्ण वेद एक था। उसका एक ही प्रयोजन था - परमकल्याण, अर्थात निःश्रेयस की प्राप्ति; किन्तु जब वेदों का उपयोग सकाम यज्ञ में हुआ तो उनके मन्त्रों का विभाजन हुआ। उनमें-से कर्मपरक, ज्ञानपरक मन्त्रों पर पृथक्-पृथक् ध्यान देना पड़ा। इन तीनों प्रयोजनों का पूरक होने से वेद को 'त्रयी' कहा गया।[4]

---

[4] वेदों के ऋृक्, यजुः, साम और अथर्व - ये चार नाम, चार विभाग तो भगवान कृष्णद्वैपायन व्यासजी ने द्वापर में किये।

सुभद्र के स्वभाव में ही बालकपना था, यह पहले कह चुके हैं। वह कुतूहली था। उसे अद्भुत लगा कि वैदिक-विद्या लौकिक प्रयोजन की पूर्ति करती है। लेकिन लौकिक प्रयोजन की भी पूर्ति के लिए तो विधि का निर्वाह ठीक-ठीक आवश्यक है। सुभद्र ने सोच लिया कि वह विधि का ज्ञान प्राप्त करेगा।

सुभद्र का लौकिक प्रयोजन कोई नहीं। कहीं कुछ पाने को उसकी कामना नहीं; किन्तु कुतूहल का कम महत्व तो नहीं है। उसने तो सोचा ही नहीं था कि सर्वेश्वर का नित्य-ज्ञान, जो 'वेद' कहा जाता है, क्षुद्र संकल्पों की पूर्ति का माध्यम भी बनता है। कैसे बनता है, यह वह स्वयं सीखकर देखेगा।

'इन्द्र की एक छुई-मुई अप्सरा के पीछे जो पागल हो गया, वह कोई उत्तम विवेकवान् तो नहीं जान पड़ता।' सुभद्र सोचने लगा प्रतिष्ठानपुर के समीप पहुँचकर। देवर्षि के चले जाने पर उसने सुरसरि में स्नान कर लिया था। 'लेकिन कोई विधि उसके ज्ञाता से ही सीखनी पड़ती है। पुरुरवा प्रश्रय देगा मुझे? उस स्वर्ग-काम का आश्रयण अनुचित नहीं होगा।'

पहली बार सुभद्र कहीं जाने में संकुचित हुआ। पहली ही बार वह प्रयोजन लेकर किसी से मिलने को उद्यत हुआ था। उसके सहज स्वभाव ने कहा - 'यह काम कन्हाई क्यों नहीं कर सकता?'

'यह तो पढ़ने की बात है।' सुभद्र खुलकर हँसा - 'कन्हाई को तो बाबा ने पढाया ही नहीं। वह कहाँ मुझसे अधिक कुछ जानता है।'

'पुरुरवा प्रश्रय न भी देगा तो क्या बिगाड़ लेगा अपना?' सुभद्र एक निश्चय पर आ गया - 'उसने अँगूठा दिखाया तो यह काम अपने को भी आता है। अन्य भी तो ऋषि-मुनि होंगे यहाँ समीप।'

पुरुरवा में विनम्रता का अभाव नहीं है, यह सुभद्र को शीघ्र पता लग गया। भले वह अप्सरा में आसक्त हो, एकनिष्ठ था और शीलवान् था। सुभद्र को 'सावधान' भी नहीं कहना पड़ा। वह देखते ही उठा था सिंहासन से और प्रणिपात करते पूरा परिचय दिया था उसने - 'यह आत्रेय पुरुरवा प्रणाम करता है।'

'राजन! मैं प्रणम्य एवं पूजनीय नहीं हूँ।' सुभद्र ने भी सहज स्वर से कहा - 'त्रयी-विद्याकाम आपका प्रश्रय लेने आया हूँ।'

'आप अर्हण स्वीकार करें।' पुरुरवा ने निवेदन किया - 'आपका सत्कार करके में पुण्य प्राप्त करूँगा। ब्राह्मण-कुमार को श्रुति का अध्ययन तभी क्षत्रिय करा सकता है, जब उचित विप्र-अध्यापक अनुपलब्ध हों - भगवान् अत्रि का आश्रम अधिक दूर नहीं है। आप-जैसे अन्तेवासी को वे अस्वीकार नहीं करेंगे।'

सुभद्र सुन चुका था देवर्षि से कि अत्रि इस वैवस्वत मन्वन्तर में सप्तर्षियों में स्थान पा चुके हैं। वे तपोधन इस समय पृथ्वी पर हैं तो दूर भी होते तो भी सुभद्र उनका अन्तेवासी बनता। वे कहीं समीप वन में चित्रकुटगिरि के पद-प्रान्त में निवास करते हैं, यह तो बहुत दूर की यात्राकी बात नहीं है।

यह ठीक है कि पुरुरवा अत्रि के प्रपौत्र थे; किंतु महर्षि ने उनका पौरोहित्य स्वीकार नहीं किया था। सुभद्र को यह आवश्यक नहीं लगा कि पुरुरवा उसके लिए प्रार्थना करने साथ चलें। पुरूरवा ने शील-सौजन्यवश कहा था - 'आपके साथ मैं भी महर्षि के चरणों में प्रणाम कर लूँ, यह अनुमति दें आप मुझे।'

'नहीं राजन्! अन्तेवासी को आचार्य के चरणों में एकाकी समित्पाणि उपस्थित होना चाहिये।' सुभद्र ने पुरूरवा की प्रार्थना

अस्वीकार कर दी। प्रतिष्ठानपुर में प्रश्रय लेने की बात तो दूर, केवल एक रात्रि ही निवास किया उसने।

वैतानिक विद्या-

अनेक आधुनिक वेदों के आलोचक तो यह भी नहीं जानते कि वेद और यज्ञ का कैसा नित्य-सम्बन्ध है। यज्ञ कितनी विद्याओं के बिना सम्पन्न ही नहीं हो सकता।

यज्ञ के लिए वितान चाहिये। बिना मण्डप के यज्ञ हुआ नहीं करता। अतः यज्ञ का कर्मकाण्ड 'वैतानिकी विद्या' है। यज्ञ करना है तो पहले मुहूर्त-शोधन कीजिये, अर्थात् ज्योतिष जानिये। अब भले भूमि-शोधन पूरा न होता हो; किन्तु विधि है कि बिना खोदे पता लगाइये - भूमि में नीचे हड्डी, बाल, भस्म, जल, धातु न हो, तब वह स्थल यज्ञ के योग्य है। आज का विज्ञान भी इतना उन्नत नहीं कि उसके यन्त्र यह सब पता दे सके।

अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित के बिना क्या वेदी, कुण्ड, कुण्ड-मेखलादि का शुद्ध निर्माण सम्भव है? ग्रहादि मण्डल बनाने के योग्य रेखा-चित्रांकन का भी अभ्यास चाहिये। वेदियों पर विभिन्न यन्त्र बनेंगे और वे रेखागणित की जटिल आकृतियाँ हैं।

अब तो अश्वमेध के अधिकारी ही नहीं रहे; किन्तु कभी ये होते थे या नहीं? बिना अश्व-परीक्षण के अश्वमेध होता होगा? यज्ञ

तो गो-परीक्षण, गज-परीक्षण ही नहीं, पुरुष-परीक्षण की योग्यता भी माँगता है। उचित लक्षणवाली गाय या गज का पूजन-दान होगा। सामुद्रिक ज्ञान के बिना सदसस्पति का निर्णय हो सकेगा?

वेद-शब्द का अर्थ ही है - ज्ञान। सम्पूर्ण ज्ञान की शब्दराशि-वेद है। वेद का प्रमुख प्रयोजन यज्ञ है। अतः यज्ञ में उस सब ज्ञान का उपयोग है।

उस युग में ब्राह्मण-कुमार मात्र श्रुतवर थे। सुना एक बार और स्मरण हो गया। सुभद्र तो उनमें भी विशिष्ट था। अत: संहिता के मन्त्रों को एक बार सुनना उसके लिए पर्याप्त था। मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का श्रवण किया उसने। अवश्य ही विनियोग की विशिष्ट पद्धतियाँ बतलानी पड़ीं।

क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ, रेखापाठ, मालापाठ, ध्वजपाठ, दण्डपाठ और रथपाठ में भी उसे श्रम नहीं करना पड़ा। महर्षि अत्रि आरम्भ में ही उससे संतुष्ट हो गये - 'आयुष्मन्! तुम तो मुझे श्रेय देने मेरे अन्तेवासी बने हो। श्रुतियों के स्वर तुम्हारे कण्ठ में ही निवास करते हैं।'

महर्षि ने उसे वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा का भेद भी समझा दिया। आज शाप-वरदान इसलिये तो सार्थक नहीं होते; क्योंकि मनुष्य की वाणी वैखरी से आगे भी बढी तो मध्यमा पर अवरुद्ध हो जाती है। परा तो मुनियों की भी सपृहणीया रही सदा; वह साध्या है; किन्तु पश्यन्ती भी स्वर में न उतरे तो शाप-वरदान का अर्थ?

वेद का मुख्य प्रयोजन यज्ञ। ब्राह्मण-ग्रन्थों का अध्ययन किये बिना यज्ञ में वेद का उपयोग कैसे ज्ञात होगा? जीवन की परम सार्थकता निःश्रेयस की प्राप्ति। उसके प्रतिपादक आरण्यक और उपनिषदों का अध्ययन किये बिना अधूरी।

अवश्य ही सुभद्र की सहज अरुचि थी व्याकरण और व्यायाम में। फलतः महर्षि ने उसे श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, शुल्वसूत्र सिखलाकर ही संतोष कर लिया। मन्त्र-संहिता का कर्मकाण्ड(श्रौतसूत्र) मन लगाकर सुभद्र ने सीखा; किन्तु गृह्यसूत्रों पर उसने कम ही ध्यान दिया। उसने कह दिया - 'मुझे किसी का पौरोहित्य नहीं करना।'

जो पौरोहित्य करेगा ही नहीं, वह क्यों विभिन्न कुलाचारों का प्रशिक्षण प्राप्त करे। धर्मसूत्र तो धर्मशास्त्र हैं - उन्हें अवश्य

जानना था और शुल्वसूत्र में सुभद्र की स्वयं रुचि थी। विभिन्न भौतिक विज्ञानों के विषय में वह कुतूहली था।

आरम्भ से ही सुभद्र ने साम-गान में रुचि नहीं ली। संगीत उसके वश की बात नहीं थी। वेदार्थ-विवेचन के लिए अनुक्रमणी का उसने अवश्य अध्ययन किया।

अंगहीन वेदाध्ययन तो व्यर्थप्राय है। वेद को 'षडंग' कहते हैं। 1. वेद की नासिका शिक्षा, 2. मुख व्याकरण, 3. कर्ण निरुक्त, 4. चरण छन्द, 5. हाथ कल्प और 6. नेत्र ज्योतिष माना गया है।

सुभद्र कहता था - 'वेद को बकवादी नहीं होना चाहिये। वह मौनी रहे, मुख बन्द रखे तो उत्तम।'

आप समझ गये होंगे उसने व्याकरण छोड़ दिया। मन्त्रों के स्वर, अक्षर, मात्रा, उच्चारण, अर्थात् शिक्षा में वह प्रगल्भ बना।

वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति वह इतनी विभिन्न और विचित्र करता था कि निरुक्तकार यास्क हाथ जोड़ लेते उसे। अच्छा हुआ कि वे उस समय तक उत्पन्न नहीं हुए थे।

यज्ञ-विधि और समस्कार-विधि, अर्थात कल्प सीखने ही तो सुभद्र आया था। करहीन वेद प्राप्त करके वह क्या करता? और पंगु वेद भी उसे प्रिय नहीं था। अतः छन्द शास्त्र भी उसने भली प्रकार सीखा।

'वत्स! मैं ज्योतिर्विद नहीं हूँ।' महर्षि अत्रि ने वैदिक यज्ञों के मुहूर्त-शोधन मात्र पढ़ाकर कह दिया - 'इसके उत्तम आचार्य देवर्षि नारद हैं।'

महर्षि की अभिरुचि संसार एवं प्राणियों के भविष्य-ज्ञान की ओर नहीं थी। वे कहते थे - 'सर्वेश्वर ने जो सुनिश्चित कर रखा है, उसका अग्रिम ज्ञान केवल चिन्ता देता है। अनुष्ठानादि से उसमें परिवर्तन सम्भव तो होता है; किन्तु वह भी कामना को ही तो बद्धमूल करता है। इससे निःश्रेयस में बाधा पड़ती है।'

सुभद्र का दृष्टिकोण भिन्न था। वह कुतूहली - अतः कहता था - 'कन्हाई क्या खटपट करेगा, पहले से जान लेने में निश्चिन्तता बनी रहती है। श्याम अमंगल तो कर नहीं सकता; किन्तु उपद्रवी तो है ही।'

ज्योतिष के गणित से ही सुभद्र को संतोष नहीं था। वह फलित का भी अध्ययन करना चाहता था; किन्तु कभी उसने दुराग्रह नहीं किया। महर्षि की अवमानना तो वह कर ही नहीं सकता था।

उपवेदों के अध्ययन-अध्यापन में महर्षि अत्रि की अत्यन्त कम रुचि थी। उन्होंने बहुत शीघ्र अध्यापन का कार्य ही छोड़ दिया। कभी कोई विद्याकाम आया भी तो उसे महर्षि वसिष्ठ के समीप अयोध्या भेज देते थे। अन्ततः वसिष्ठजी भी तो सप्तर्षि-मण्डल में उनके सहयोगी ही थे।

सुभद्र ने साम-गान में ही रुचि नहीं ली तो सामवेद के उपवेद गान्धर्ववेद के अध्ययन का प्रश्न कहाँ उठता था। ऋग्वेद के उपवेद को वैश्यों के उपयोग का बतलाता था। केवल अध्यापन के लिये अध्ययन उसे उसे व्यर्थ लगता था। यजुर्वेद के उपवेद धनुर्वेद को भी क्षत्रियों का कहकर छोड़ दे सकता था; परन्तु थोड़ी रुचि होने पर भी उसे वह प्राप्त नहीं हुआ। महर्षि अत्रि उसका अध्यापन ही नहीं करते थे। अवश्य अथर्ववेद के उपवेद आयुर्वेद में उसने अच्छी रुचि ली।

'आर्त प्राणी को आयुर्वेद आश्वासन देता है।' महर्षि अत्रि की आदरबुद्धि थी आयुर्वेद के प्रति - 'अभी सब स्वस्थ हैं; किन्तु कभी भी पीड़ित हो सकते हैं। अतः पीड़ा-निवारण प्रत्येक को आना चाहिये।'

आन्तरिक, अर्थात् असंयमजन्य रोग उस समय भले न होते हों, आगन्तुक और आघातज तो हो ही सकते थे। आज तो आगन्तुक रोग ही बढ़ गये हैं; क्योंकि जीवाणुओं (बैक्टीरिया) और विषाणुओं (वाइरस) की बहुलता हो गयी है।

सुभद्र ने भी आयुर्वद के अध्ययन में पूरी रुचि ली। निदान, चिकित्सा, निघण्टु - तीनों अंग उसने पढ़े। वानस्पतिक, धातुज, जैवज, विष और रस औषधियों के पाँचों अंग उसे प्राप्त हुए। शोधन, पाचन, कल्प की तीनों पद्धतियों को पूर्णतः सीखा उसने।

ज्योतिष के अपने अपूर्ण अध्ययन को पूर्ण कर लेने का निश्चय तो उसने कर लिया था; किन्तु देवर्षि नारद नित्य पर्यटनशील ठहरे। उनका कोई आश्रम तो था ही नहीं कि वहाँ पहुँचा जा सके। अतः देवर्षि जब कभी मिलें, तब पर इस विद्या को छोड़ना पड़ा। यह भी अनिश्चित रह गया कि देवर्षि अपनी यात्रा में साथ ले लेंगे। आगे भी देवर्षि ने यह अवसर नहीं दिया।

उनको पढ़ाना प्रिय नहीं है। वे तो हरिचर्चा के व्यसनी हैं। अतः सुभद्र को जब आगे मिले भी, बहुत थोड़े सूत्र सुनाकर उन्होंने प्रत्येक बार पिण्ड ही छुड़ाया। यह दूसरी बात है कि देवर्षि से सुने उन थोड़े सूत्रों के आधार पर सुभद्र की प्रतिभा बहुत-कुछ निकाल लेती थी।

महर्षि अत्रि कोई ऋषिकुल नहीं चलाते थे। उनका आश्रम घोर अरण्य में था। कभी कोई ब्रह्मचारी विद्याकाम आ ही पहुँचे तो उसे निराश भी नहीं करते थे। पीछे तो यह भी नहीं चला; क्योंकि वे प्राय: समाधि में स्थित रहने लगे। सुभद्र जब पहुँचा था, उस समय महर्षि के समीप दूसरा अन्तेवासी नहीं था। अतः सुभद्र को महर्षि का नित्यकर्म-ध्यानादि से अवशिष्ट पूरा समय प्राप्त हुआ। सुभद्र की शिक्षा शीघ्र समाप्त हो गयी।

सुभद्र के प्रत्यावर्तन-संस्कार का कोई अर्थ नहीं था। वह ऐसा गृहस्थ-बालक नहीं था, जो उपनयन के पश्चात् गुरु-गृह आया हो। उसे लौटकर विवाह भी नहीं करना था; किन्तु नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के नियमों को स्वीकार करके गुरुसेवा में ही रह जाने का व्रत भी उसे लेना नहीं था। सुभद्र उस समय प्रचलित प्रथाओं का अपवाद था। उसे कोई नियम-बन्धन स्वीकार नहीं था; किन्तु उसे कोई भी उच्छृंखल भी कह नहीं सकता था।

'भगवन्! आपके अपार वात्सल्य-ऋण से कभी मुक्त नहीं हो सकता।' सुभद्र ने प्रस्थान से पूर्व प्रार्थना की महर्षि अत्रि से- 'किन्तु सेवा की कोई आज्ञा पाकर मैं अपने को कृतार्थ मानूँगा।'

'वत्स! मैं तुम्हारी सेवा और शील से संतुष्ट हूँ। तुम्हारा मंगल हो!' महर्षि ने आशीर्वाद देकर कहा - 'तुम-जैसे सहज वीतराग अपरिग्रही के लिए गुरु-दक्षिणा अनिवार्य नहीं होता।'

'मुझे कृतार्थ करने के लिए कृपा करें।' सुभद्र ने आग्रह किया - 'संकोच का करण नही है प्रभो! ऐसा कुछ नहीं है जो कन्हाई के लिए अदेय हो और मुझ कंगाल का यही कोष है।'

'मैं भूल रहा था।' महर्षि ने दो क्षण नेत्र बंद रखे। ध्यान से उत्थित होकर उल्लासपूर्ण स्वर में बोलें - 'गुरुदक्षिणा देने का तुमसे अधिक उपयुक्त पात्र मुझे पुनः सुलभ नहीं होगा। तुम्हीं हो कि अकिंचन होते भी कुबेर को कंगाल कह सको।'

'आज्ञा!' सुभद्र समझ गया कि महर्षि कुछ असाधारण माँगनेवाले हैं, किन्तु जब देने का दायित्व कन्हाई पर है तो वह संकोच क्यों करे?

'तुम्हारे सखा को मर्यादापुरुषोत्तम बनकर धरा पर आना है। मैं खिन्न था कि वसिष्ठ को उनका पौरोहित्य प्राप्त होगा।' महर्षि अत्रि भाव-विभार कह रहे थे - 'वे अपने सखा का वचन मर्यादापुरुषोत्तम बनकर अपना न मान लें, यह सम्भव नहीं है। अतः मैं तुमसे केवल एक वचन चाहता हूँ।'

महर्षि कुछ क्षण रुके। सुभद्र हाथ जोड़े, सिर झुकाये सुनने को उन्मुख खड़ा था। महर्षि ने कहा - 'वे जब वन में आवें - आवेंगे ही, तब कुछ काल इस जन को सांनिध्य देने की अवश्य कृपा करें।'

'यह कृपा वे करेंगे!' सुभद्र ने स्वस्थ, परावाणी की प्रयत्नपूर्वक जागृत करके कहा और परावाणी तो अमोध वाणी है। पुरुष से प्रतिष्ठित अधोक्षज की वाणी है वह।

'मैं परितुष्ट हुआ।' महर्षि ने सुभद्र के मस्तक पर हाथ रखा। उसे हृदय से लगाया। उनके श्रीचरणों में मस्तक रखकर सुभद्र उसी दिन उस आश्रम से विदा हुआ। अब सुभद्र अल्हड़ युवक नहीं, वेद-वेदांग-पारंगत, प्रकाण्ड विद्वान सुभद्र उस आश्रम से विदा हुआ था।

यज्ञशाला-

अन्ततः सुभद्र भी महाराज गाधि (विश्वामित्र के पिता) के यज्ञ में आमन्त्रित हुआ। व्यक्ति की सांसारिक सफलता के लिए उसका योग्य होना ही आवश्यक नहीं है। योग्यता कम ही हो तो काम चल जाता है, यदि उचित वयक्तियों से उसका परिचय हो। सुभद्र न प्रसिद्ध था, न किसी नरेश का पुरोहित। उसके न आश्रम, न ऋषिकुल। जो एक स्थान पर रहता ही नहीं, उसे कोई कैसे आमन्त्रित करे। यह तो महर्षि अत्रि की प्रेरणा से वह आहूत हुआ। महर्षि ने आमन्त्रण अस्वीकार किया तो अपने प्रिय शिष्य को आमन्त्रित करने का आदेश दिया।

सुभद्र को यज्ञ का सदसस्पति बनकर अनेक अनुभव हुए। वह पहली बार जन-सम्पर्क में आया था। उसे अब तक ईर्ष्या, स्पर्धा और सहयोगी को अनादरित करने के कूट प्रयत्मनों का कोई अनुभव नहीं था।

सुभद्र को अद्भुत लगा कि यज्ञ कर्म-सम्पादन के निमित्त पधारे कर्म-निष्ठ ब्राह्मण नरेश की स्तुति करते हैं। श्रुति के ज्ञानकाण्ड को उन्होंने यजमान का स्तवन मान लिया है। इतना ही नहीं, यजमान को संतुष्ट रखने में वे परस्पर स्पर्धा करते हैं। यजमान

की उपस्थिति में उनके मन्त्र-पाठ का स्वर अधिक उच्च हो जाता है। अकारण क्रियानैपुण्य एवं व्यवस्तता का प्रदर्शन करते हैं वे।

पुरूरवा में लौकिक कामना आयी थी। श्रुति का लौकिक प्रयोग प्रारम्भ हुआ था। प्रकृति ह्रासोन्मुखी है। प्रजा में, राजाओं में भी लौकिक कामना बढ़ती गयी और कब उसने मर्यादा का अतिक्रमण कर लिया, पता ही नहीं लगा। वासना तो पिशाची है। कभी तृप्त होना जानती नहीं। अहंकार बढ़ाती है। नरेश दर्पित हुए तो ब्राह्मण दीन बनता गया। वह आशीर्वाद देने वाला होकर भी आश्रित के समान व्यवहार करने लगा।

सुभद्र अपरिचित था। अतः अन्य आगतों का भाव उसके प्रति ऐसा था, जैसे वह अनपेक्षित आया है। उसका विरोध किसी ने नहीं किया; क्योंकि वह आमन्त्रित आया था; किन्तु उसे यजमान के सम्मुख अल्प बनाने का अप्रत्यक्ष प्रयत्न करने में भी कोई अवसर किसी ने नहीं छोड़ा।

सुभद्र की यह अवगणना एवं विरोध बहुत अल्प समय चला। वह अमिततेजा महर्षि अत्रि का शिष्य था। महाराज गाधि-जैसे प्रबल पराक्रम नरेश की भी कोई अपेक्षा करता नहीं लगता था। उनका सांकेतिक सम्मान तो दूर, उनके किञ्चित प्रमाद को

भी कठोरता से सूचित करता था। इसका उलटा परिणाम हुआ था कि राजा जो यजमान था उसके सम्मुख बहुत विनीत हो गया था। उसका अधिक आदर करने लगा था। उसके प्रति सशंकित रहता था कि वह रुष्ट न हो जाय।

ब्राह्मणों की धारणा भ्रान्त निकली थी कि सुभद्र युवक है, प्रथम महायज्ञ में आया है तो अनभ्यस्त सिद्ध होगा। सुभद्र का श्रौतज्ञान अप्रतिम था और उसके क्रिया-नैपुण्य की प्रशंसा सबको करनी पड़ती थी। प्रमाद उसे स्पर्श नहीं करता था। जो कार्य करो, पूरा करो और पूरी कुशलता से करो - यह उसका जन्मजात स्वभाव यहाँ प्रखर हो उठा था।

'राजन्! मैं केवल गुरु-आज्ञा स्वीकार करके आ गया हूँ।' सुभद्र ने पहले ही अवसर पर कह दिया - 'अपरिग्रहव्रती परिव्राजक हूँ। विधि-सम्पन्नता मात्र के लिए दक्षिणा स्वीकार करूँगा; किन्तु उसको इन विप्रों में वितरण का दायित्व आप स्वयं वहन करेंगे।'

ब्राह्मण चकित रह गये। सुभद्र सम्मान्य हो गया उसी क्षण सबका। उसने दक्षिणा स्वयं वितरण करना स्वीकार किया होता

तो अनेक उसके अनुगामी बन जाते; किन्तु इससे बचने में उसने चतुरता की।

सुभद्र का व्यवहार ब्राह्मणों के प्रति अतिशय विनम्र था। अब सहयोगी उसकी स्तुति करने लगे थे; किन्तु उसने किसी की त्रुटि कभी सूचित नहीं की। स्वयं अधिक श्रम और कर्म-दायित्व लेने में शिथिल नहीं हुआ।

सुभद्र को श्रौत-हिंसा से भी अरुचि थी। उसने राजा के सदन का सुस्वादु आहार भी स्वीकार नहीं किया। गो-दुग्ध और फल भोजन बने रहे उसके। अजिन (पशु-चर्म) का वह आसनार्थ भी उपयोग नहीं करता था। वह यह जानकर ही आया था कि इस वैष्णव-याग में पशु-बलि नहीं होनी है।

यजमान अतिशय विनम्र थे सुभद्र के प्रति। सहयोगी सानुकूल ही नहीं हुए - सेवापरायण हो गये थे। यह सब होने पर भी सुभद्र को यज्ञ में आकर प्रसन्नता नहीं हुई। वह केवल मन्त्रपाठ एवं आहुति के समय आनन्द का, सात्विक शान्ति का अनुभव करता था। शेष समय उसका चित्त उद्विग्न बना रहता। उसे लगता था कि यज्ञ में सम्मिलित होकर उसने भूल की है।

आहुति का एकमात्र अधिकारी वह कन्हाई। वही सर्वदेवरूप। तब इन नाना नामों से, नाना रूपों सें क्यों? सीधे उसी को क्यों सम्बोधित न किया जाय?

सुभद्र का यह अपना आन्तरिक संघर्ष था। बाहर वह देखता था, वेदज्ञ ब्राह्मणों में बहुत शिथिल श्रद्धा है। जो है भी, विभिन्न देवताओं के प्रति भी नहीं, केवल क्रिया के प्रति है। कर्म-विस्तार एवं नैपुण्य में भी यजमान की संतुष्टि और अपनी सुविधा, प्रतिष्ठा प्रधानता प्राप्त कर चुकी है। यह स्थिति सुभद्र को बहुत व्यथित करती थी; किन्तु जब उसका वरण हो चुका, कर्मान्त तक वह सम्मिलित रहने को बाध्य था।

सबसे कष्टकर स्थिति थी यज्ञाहुति समाप्त होने पर यज्ञशाला से बाहर विप्र-समुदाय का साथ देना। सुभद्र इससे जहाँ तक सम्भव होता, बचता था। लेकिन सब समय तो यह सम्भव नहीं था।

ब्राह्मणों का परस्पर परिहास अनेक बार अश्राव्य बन जाता था। अनेक बार तो यज्ञीय कर्म के मध्य भी वे संकेत से या मन्द स्वर में कुछ ऐसा कह कर हँस लेते थे, जो सुभद्र को शिष्ट नहीं लगता था। वे जो वर्तमान या पिछले यजमानों की उदारता अथवा

कृपणता की परस्पर चर्चा करते थे, किसी सामान्य ऋषि अथवा विद्वान का छिद्रान्वेषण चलता था उनमें - यह परचर्चा भी और इतनी तत्परता, इतनी रुचि लेकर। सुभद्र का जी करता था कि अपना सिर पीट ले।

यहाँ यज्ञशाला के बाहर इतना आहारलोलुप ब्राह्मण! इतना आतुर कि दो क्षण को संतोष नहीं। ब्राह्मण भी व्यसनी! उस समय ताम्बूल-सेवन और पुष्पमाल्य-अंगराग-धारण ही व्यसन था; किन्तु ब्राह्मण में व्यसन क्यों? सुभद्र कैसे समझे कि ब्राह्मण भी अर्थ और काम-पुरुषार्थी होता है। उसे तो ब्राह्मण का धर्म भी लौकिक प्रयोजन-पूर्ति का साधन बने, यह सह्य नहीं था।

सुभद्र तरस गया - कोई तो कन्हाई के सम्बन्ध में कुछ कहे - कुछ सुने या सुनावे। कोई प्रकारान्तर से ही सही, कृष्ण की चर्चा तो करे!

सुभद्र को बहुत अखरता था, जब 'विष्णवे नमः' या 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' भी केवल कह दिया जाता था। यह भी शब्द और क्रियामात्र? यहाँ भी हृदय का कोई योग नहीं?

सुभद्र को कौन कहे कि वैदिक कर्मकाण्ड की सम्पन्नता बिना ईश्वर को माने भी हो जाती है। यज्ञीय धूम्र-धूसर अन्त:करण कर्म को ही गुरु और ईश्वर मान लेता है। कर्म स्वयं फलदान-समर्थ है और मन्त्रशक्ति से देवता उत्पन्न होता है, फल देने के लिए - यह विश्वास जहाँ है, वहाँ भक्ति का उदय कैसे सम्भव है?

धर्म का प्रयोजन स्वर्ग भी हो तो भोग ही प्रयोजन हुआ। इस लोक में प्रयोजन पूरा होता हो तो स्वर्गकाम उसका त्याग कर पावेगा? सुभद्र के समान सबने स्वर्ग देखा तो नहीं है और देख भी पाते तो सुभद्र के समान उसकी उपेक्षा कर पाते?

त्रेतायुग में वह पतन का काल था। दक्षिण समुद्र में सुरासुरजयी दशग्रीव और उसके अनुचर अदम्य थे। उनका आतंक अमरावतीतक को कम्पित किये था। बहुत थोड़े तेजस्वी ऋषि-मुनि अरण्यों में रह गये थे। वे अपनी आहुति देने को उद्यत होकर असुरों के अवरोधक बने थे।

राक्षसों की दुर्नीति का प्रभाव पृथ्वी पर बढ़ता जा रहा था। प्रसिद्ध ऋषि-मुनियों में भी लोभ-काम के प्रबल स्खलन प्राप्त होने लगे थे। ब्राह्मण राज्याश्रयी बन गये थे और जो नहीं बन सके थे, बनने को प्रयत्नशील थे।

दुर्बल, पराजित, पीड़ित केवल दयनीय ही नहीं होते, वे परोत्पीड़क एवं उत्पाती भी हो जाते हैं। कायर अधिक स्वार्थलोलुप बन जाता है। दशग्रीव-दलन की असमर्थता ने राजाओं में ये सब दुर्गुण उत्पन्न कर दिये थे। वे अब ब्राह्मणों की अवगणना और उनका भी स्वत्व-हरण करने लगे थे। इसीलिये भगवान् परशुराम को इक्कीस बार एक ओर से क्षत्रियों के संहार का दारुण कर्म करना पड़ा।

सुभद्र तो पृथ्वी पर तब भी था, जब स्वर्ग पर हिरण्यकशिपु का अधिकार था। उस प्रथम सतयुग में सुभद्र को कोई असुविधा नहीं हुई थी। हिरण्यकशिपु केवल सुर-शत्रु था। पृथ्वी के सामान्य मनुष्य उसके लिए नगण्य थे। वह त्रिभुवनजयी, समस्त लोकपालों का तेज एक साथ धारण करनेवाला - वह कहाँ किसी एकाकी अरण्यवासी मनुष्य को लेकर कुछ सोचने लगा था।

स्वर्ग में ही हिरण्यकशिपु का आतंक रहा और वहीं उसे भगवान नृसिंह ने समाप्त कर दिया था। पृथ्वी पर प्रकट हुए भगवान वामन भी पश्चिम भारत में नर्मदा-तट पर प्रहलाद के पौत्र बलि के यज्ञ में गये और वहीं बलि को सुतल भजकर स्वयं उपेन्द्र होकर स्वर्ग में प्रतिष्ठित हुए।

दशग्रीव पृथ्वी पर बस गया था। उसके उपद्रव भारत में अधिक होते थे। उसका प्रभाव यहाँ के समाज पर पड़ रहा है, यह भी सुभद्र समझ न पाता, यदि महाराज गाधि के इस यज्ञ में न गया होता। उसे यहाँ की स्थिति ने - विशेषत: ब्राह्मणों के व्यवहार ने बहुत व्यथित किया।

सुभद्र अपने को व्यस्त रखने लगा। वह यज्ञीय समारम्भ में सेवकों को निर्देश देने तक का कार्य सँभालने लगा। उसे केवल एक कार्य प्रिय लगा यहाँ। अवसर मिलते ही वह यज्ञीय धेनुओं के समीप चला जाता था। उन गायों को सहलाता और उनके बछड़ों के साथ बातें करता - अपने कन्हाई की बात।

'ये आत्रेय महोदय पशुओं से बातें करते हैं।' सुभद्र के लिए यह सुख भी विपत्ति बना। ब्राह्मणों में किसी ने उसे बछड़ों से बात करते देख लिया और परस्पर चर्चा का विषय बन गया यह।

'भगवन्! आप पशु-पक्षियों की भाषा के भी ज्ञाता हैं।' बात जब फैलती है, बतंगड़ बनती जाती है। महाराज गाधि तक बात पहुँची थी और उन्होंने स्वयं सुभद्र से पूछा था।

'यह सद्गुण तो केवल कन्हाई में है।' सुभद्र चौंक गया था। उसने स्पष्ट कह दिया - 'मैं तो केवल बछड़ों को निमित्त बनाकर कुछ कृष्ण-चर्चा कर लेता हूँ।'

'आप प्रकट नहीं करना चाहते तो आपकी इच्छा।' राजा को संतोष नहीं हुआ। यह तो कुशल हुई कि उनके यज्ञ की पुर्णाहुति दूसरे ही दिन थी। तीसरे दिन अवभृथ-स्नान के पश्चात् ढूंढने पर भी सुभद्र को वहाँ कहाँ मिलना था। वह तो अवभृथ-महोत्सव के मध्य में ही सुयोग देखकर खिसक गया था। उसे कहाँ विदा-दक्षिणा लेनी थी कि बना रहता।

आश्रय का अन्वेषण-

अनवरत आपत्तियाँ सुकुमार सौन्दर्य को म्लान कर ही देती हैं। वह तनिक आतप से अरुण हो उठनेवाली युवती जैसे सूख गयी थी। शीत में हिम की मारी पद्मिनी-जैसी। पदचाप भी उसे संत्रस्त करती थी। उसने उटज का द्वार भी तब खोला, जब अतिथिके स्वरसे संतुष्ट हो गयी और संधि से देख लिया कि वह सशस्त्र दस्यु नहीं है।

'भगवन्! आप इस अभागिनी की अविनय क्षमा करें।' द्वार खोल कर उसने भूमि में मस्तक रखा - 'मैं एकाकिनी आतिथ्य की स्थिति में नहीं हूँ। मैं तो स्वयं अभी इस उटज को अग्निदेव को अर्पित करके इस देह की आहुति देने जा रही थी।'

'हेमा, तुम? तुम आत्मघात को उद्यत हो गयीं? ऐसा क्या संकट है?' सुभद्र महाराज गाधि के यहाँ से चला तो कई दिन भटकता इस सरितातट के शून्य-प्राय उटज-तक आ गया था। उटज-द्वार बंद न होता तो वह आगे बढ़ जाता। द्वार भीतर से बंद था और सम्मुख का स्थान अपरिष्कृत था। आशंका हुई - कोई एकाकी रुग्ण तो नहीं? सुभद्र कुशल चिकित्सक तो है ही, अत:

उसने द्वार खट-खटाया। जिस युवती ने द्वार खोला उसे देखकर वह चौंक गया।

'मेरा नाम श्रुति है।' उसने अपना परिचय दिया - 'लगता है आप किसी आकृतिसाम्य से भ्रम में पड़ गये हैं। लेकिन आसन ग्रहण करें।'

वह द्वार से एक ओर हट गयी। सुभद्र आकर जब बैठ गया, उसने स्वयं बतलाया - 'माता-पिता शैशव में ही परलोक पहुँच गये। मातुल ने पालन किया; किन्तु वे भी अब इस लोक में नहीं हैं। वे किसी को संरक्षक नहीं बना गये और मनुष्य आज मांस भक्षी ही नहीं, मलभोजी हो गया है। समीप का वृद्ध किरात कंद-फल दे जाता है; किंतु उससे जो सुनने को मिलता है - संत्रस्त हो गयी हूँ। मेरे चर्म की सुरूपता-शत्रु हो गयी है मेरी। कोई समीप का क्षुद्र राजा मेरे अपहरण की योजना बना रहा था। वह भी किसी अन्य को दासीरूप में देने के लिए। शरीर को अग्नि-समर्पित करने के अतिरिक्त और क्या मार्ग है?'

'तुम्हारा यहां निवास निरापद नहीं।' सुभद्र ने स्पष्ट स्वीकार किया। उसने आवश्यक नहीं समझा यह सूचित करना कि क्यों उसने श्रुति को हेमा कहा। लेकिन अब इतना दायित्व तो उसका है

ही कि श्रुति को सुरक्षा दे। 'तुम्हारे लिए आश्रम अन्वेषण करना पड़ेगा। तुम साथ चलने को प्रस्तुत हो जाओ।

'वह वृद्ध किरात आता होगा। तुम फलाहार कर लो।' श्रुति को साथ चलने से आपत्ति कहाँ थी। उसने मान लिया - स्वीकार कर लिया कि यह अतिथि ही उसका आश्रय है। उसने कह दिया - 'इस उटज में ऐसा कुछ नहीं, जिसे साथ लेना आवश्यक हो।'

सुभद्र को परिस्थिति ने श्रुति को साथ लेने को विवश किया था; किन्तु वह सचमुच श्रुति के उपयुक्त आश्रय के ही अन्वेषण में निकला था। उसने सीधे सुरसरि के समीप पहुँचना उचित समझा और आगे उनके तट को पकड़कर यात्रा करने लगा।

श्रुति बहुत सुकुमारी थी। सुभद्र को उसे साथ रखने के लिए अपनी गति मंद रखनी पड़ती थी। इतने पर भी वह बार-बार पिछड़ जाती तो प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।

अच्छा हुआ कि रात्रि को आतिथ्य प्राप्त हो गया। यद्यपि सुभद्र ने लक्षित किया कि जहाँ वह अतिथि रहा, उसे सशंक देखा गया। श्रुति तो झल्ला उठी। उसने अन्ततः पूछ ही लिया - 'तुम्हारा आश्रम कहाँ है?'

'कहीं नहीं।' सुभद्र ने अपनी स्थिति स्पष्ट की।

'तब सुरसरि के तट पर ही कहीं आश्रम बना लो।' श्रुति जान चुकी थी कि सुभद्र विद्वान है। उसने झटपट एक दो राजाओं के नाम भी गिना दिये, जिनको सुभद्र का पौरोहित्य प्रिय हो सकता था।

'मुझे पौरोहित्य किसी का नहीं करना।' सुभद्र ने श्रुति को निराश कर दिया - 'उटज का बन्धन मुझे सह्य नहीं। मैं एक स्थान पर रहने का अभ्यासी नहीं हूँ। तुमको कोई उपयुक्त आश्रय देने मात्र के लिए मैंने साथ लिया है।'

श्रुति का व्यवहार तो उसी समय परिवर्तित हो गया। वह अधिक उदासीना बन गयी। बहुत कम बोलने लगी। सुभद्र को यह अच्छा ही लगा। वह इस अल्प समय में ही देख चुका था कि विपत्तियों ने श्रुति के अनेक सद्गुण विलुप्त कर दिये थे। वह सुख-सुविधा की आकांक्षिणी हो गयी थी। किसी की भी सेवा निःसंकोच स्वीकार कर लेती थी। कहना चाहिये कि इसे स्वत्व मानने लगती थी।

विचित्र स्वभाव था श्रुति का। अपरिचित के प्रति अत्यन्त विनम्र; किन्तु परिचित को सामान्य बात भी ऐसे व्यंग्य से कहती जो मर्मबिद्ध करे। उस बेचारे वृद्ध किरात को, जो उसे पुत्री कहता था, इसने वाक्-ताड़ित किया था।

बहुत कष्ट झेलने से अति आत्मलीन-स्वार्थी भी कह सकते हैं - बन गयी थी। वह स्थान - आहारादि के सम्बन्ध में अपनी सुविधा देखती थी। उत्तम को अपना स्वत्व मानती थी। साथ के व्यक्ति की रुचि, सुविधा पर ध्यान ही नहीं जाता था उसका और अपनी त्रुटि सुनना उसे असह्य था।

सुभद्र इस स्वभाव और स्थिति से दो दिन में ही ऊब गया। श्रुति निश्चिन्त थी। उसने समझ लिया था कि सुभद्र उसे एकाकिनी छोड़कर नहीं जा सकता। इस विवशता का लाभ उठाने में उसे कोई अनौचित्य नहीं लगता था।

सौभाग्य से सुरसरि के एक ऊँचे तट पर एकाकी उटज दृष्टि पड़ा। सुभद्र उस ओर चला तो श्रुति ही उत्कण्ठिता हुई - सुरम्य स्थल है। उपवन भी समीप है। होमधेनु भी दिखायी पड़ती है।

'मेरा ज्योतिर्ज्ञान ठीक है तो यही तुम्हारा आश्रय है।' सुभद्र ने सचमुच स्वर-ज्ञान का उपयोग कर लिया था। उसे संतोष हुआ। श्रुति को - नहीं, हेमा को साथ ले जाने की बात अभी दूर है। इस समय तो श्रुति को कहीं आश्रय देकर वह स्वच्छन्द हो जाना चाहता है।

'आ जाओ भद्र! मैं उठने में असमर्थ हुँ।' उटज-द्वार उन्मुक्त था। वहाँ पुकारने पर एक क्षीण स्वर आया भीतर से।

सुभद्र श्रुति के साथ भीतर गया। उसने काष्ठ-शैया पर पड़े वृद्ध को प्रणाम किया तो वृद्ध ने आशीर्वाद देकर श्रुति को उटज के एक कोने की ओर संकेत करते कहा - 'पुत्री! आसन ले लो!'

वार्धक्य स्वयं रोग है। उन वृद्ध को कोई विशेष रोग नहीं था। अतिशय वृद्ध, वलीपलित काय, रोम और भ्रू-तक श्वेत। पूर्व दिशा की वायु चलने से उनके शरीर के प्रत्येक जोड़ में पीड़ा होती थी।

'एक वृद्धा शबरी आती है।' उन वृद्ध मुनि ने कहा - 'वह उटज स्वच्छ कर देती है। फल-कन्द धर जाती है। धेनु दुह देती है और उसे तृण डाल देती है। मैं स्वयं एक बार किसी प्रकार उठ

जाऊँ तो शरीर धीरे-धीर सक्रिय हो जाता है। तुम दोनों प्रथम प्रहर में आ गये। मध्याह्न में आते तो मैं आतिथ्य कर लेता।'

'आप लेटे रहें।' सुभद्र ने देखा कि वृद्ध मुनि उठने की चेष्ठा कर रहे हैं।

'बाबा, अब मैं आपकी सेवा करूँगी।' श्रुति को निश्चय करने में विलम्ब नहीं हुआ। यह स्थल, आश्रम उसे सुरम्य लगा था। अब ये मुनि आश्रय दे देंगे, इसमें भी उसे संदेह नहीं था। वह उटज स्वच्छ करने में लग गयी।

'मुझे उठना भी तो चाहिये!' वृद्ध मुनि को उठने में कठिनायी हो रही थी - 'अभी अपना आह्निक भी करना है।'

सुभद्र ने उन्हें उठने में सहायता दी। उनके नित्यकर्म के लिए जल, हस्त-प्रक्षालनादि की सेवा श्रुति ने सोत्साह की। सचमुच थोड़ा चलने-हिलने के पश्चात वृद्ध मुनि स्वयं सक्रिय हो गये।

सुभद्र ने उन मुनि के साथ पुनः सुरसरि-स्नान किया। उसे मध्याह्न संध्या करनी थी। मुनि ने भी अपना संक्षिप्त आह्निक पूरा किया। सुरसरि-तट से जब दोनों उटज में आये, सुभद्र को प्रसन्नता

हुई। श्रुति श्रम भी कर सकती है, यह उसने देख लिया। उटज स्वच्छ हो गया था और बहिर्भाग आगता शबरी से श्रुति इस प्रकार स्वच्छ करा रही थी, जैसे वही स्वामिनी हो।

मुनि के साथ ही सुभद्र को भी फलाहार करना पड़ा। श्रुति ने साथ नहीं दिया। वह स्वयं आतिथेया बन गयी थी। उसने दोनों के पश्चात आहार-ग्रहण किया। आज बहुत दिनों के अनन्तर उस वृद्धा शबरी को प्रसाद प्राप्त हुआ। अन्यथा तो वह अपने लाये फल-कंद रखकर, आश्रम स्वच्छ करके विदा हो जाती थी। उसे प्रसाद भी दिया जाना चाहिये, यह कभी उन वृद्ध मुनि को स्मरण ही नहीं आया।

'वत्स! यह तुम्हारा ही आश्रम है।' वृद्ध मुनि ने सुभद्र से आग्रहपूर्वक कहा - 'तुम दोनों को कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। लक्षणों से लगता है कि इस पुत्री को तुमने अभी स्वीकार नहीं किया है; किन्तु.......।'

'मैं गृहस्थ होने को इच्छुक नहीं हूँ।' सुभद्र ने बीच में ही मुनि को रोक कर श्रुति का परिचय दिया। उसकी स्थिति सूचित करके कहा - 'उसे आश्रय की आवश्यकता है और आपको भी इस

वार्धक्य में सेवा प्राप्त होनी चाहिये। वह यहाँ रहेगी तो आपको सुविधा होगी।'

'वह इसे अपने पिता का आश्रम मानकर सानन्द रहे।' वृद्ध मुनि ने प्रसन्न होकर कहा - 'वह मेरी पुत्री है। लेकिन मैं अब मरणासन्न हूँ। उसके योग्य युवक के अन्वेषण में तुम मेरी सहायता करों तो उत्तम होगा।'

'बाबा! मुझे किसी की सहायता अपेक्षित नहीं है।' श्रुति ने बात सुन ली थी। वह समीप आ गयी। आश्रय का आश्वासन मिल जाने पर उसका अभिमान जाग्रत हो गया था - 'मैं आपकी सेवा करके संतुष्ट हूँ। दूसरे किसी का आश्रय मुझे नहीं चाहिये।'

'वत्से! यह वृद्ध तो पक्व फल है। कब वृन्तच्च्युत हो जाय, कुछ ठिकाना नहीं है।' मुनि ने स्नेहपूर्वक समझाया।

'माता सुरसरि का अंक अवरुद्ध नहीं हो गया है।' श्रुति ने रुदन प्रारम्भ किया - 'कोई नहीं देगा तो वे मुझे आश्रय दे देंगी। मैं अब आपके अतिरिक्त अब और किसी का आश्रय स्वीकार नहीं करुंगी।'

'वत्से! यह आश्रम तो तेरा ही है।' वृद्ध मुनि अनुभवी थे। उन्होंने समझ लिया कि यह कन्या हृदय से इस तरुण की हो चुकी है और यह उसे स्वीकार करने को उद्यत नहीं है। जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत ले रहा हो, उसके पुण्य-निर्णय में बाधा देना पाप है। साथ ही आर्य-कन्या मन से किसी का वरण कर चुकी तो उसे दूसरे को स्वीकार करने को बाध्य किया जा ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में मौन रहकर सर्वेश्वर की इच्छा स्वीकार करना पड़ता है।

श्रुति को अब कहीं जाना नहीं था। सुभद्र ने दिन के तृतीय प्रहर में उससे और मुनि से भी विदा ली।

परशुराम-

अतिशय अकरुण, प्रचण्ड-पराक्रम, दुरन्तवेग परशुराम का आतंक व्याप्त हो गया देश में। परशुराम - जो दया करना जानते ही नहीं। परशुराम - जो मनुष्यों को पशुओं की भाँति काट फेंकते हैं। परशुराम - जिनके प्रतिहिंसा की पिपासा कहाँ परितृप्ति पावेगी, कोई नहीं जानता।

परशुराम का दर्शन हो गया था सुभद्र को; किन्तु वे उसे दुर्विनीत लगे। वे ब्राह्मणों के अपने हैं, यह कहने में सुभद्र को तो लज्जा आवेगी। यह सत्य है कि वे ब्राह्मणों को कष्ट नहीं देते; किन्तु जो अपने आदरणीयों को भी केवल औपचारिक आदर देता है, वह किसी का सत्कार करेगा?

सुभद्र कभी परशुराम के प्रति सामान्य ढंग से सोच नहीं सका। वह उनकी चर्चा आते ही उत्तेजित हो जाता है - 'जिसने अपनी जननी और अग्रजों तक का शिरच्छेदन किया, वह कहीं कृपा कर सकता है? प्रवाद है कि उसने पिता की आज्ञा से यह अपकर्म किया। अब पिता की हत्या होने पर उसकी प्रतिहिंसा पिशाचिनी बन गयी है।'

परशुराम को अपराधी-निरपराध का विवेचन करना ही नहीं है। वे क्षत्रियमात्र के संहारक बन गये है। कोई प्रतीकार नहीं पृथ्वी में उनका। महेश्वर ने उन्हें परशु पकड़ा दिया है और भगवान् विष्णु का आवेश है उनमें।

'बाबा तो प्रलयंकर हैं। उनका परशु पाकर परशुराम सृष्टि का संहार करते-फिरते हैं, यह तो ठीक' सुभद्र कहता है - 'किन्तु श्रीपति इस संहार में अधिक दिन परशुराम को सहयोग नहीं दे सकते। वे प्रजापालक हैं। अवश्य वे परशुराम से अपना अंश आकर्षित कर लेंगे और तब परशुराम दन्त-विरहित सर्प बन जायँगे।'

सुभद्र का अनुमान सफल होने में देर लगी; किन्तु सफल हुआ यह हम-आप जानते हैं। कोई आवेश हो, अंधा होता है। परशुराम अपने आवेश में विवेक-रहित हो गये थे। वे विनाश को ही अपना गौरव बनाये घूम रहे थे।

परशुराम का वेग अप्रतिहत था। परशुराम का परशु अमोघ था। परशुराम अमर। अब उनका प्रतिरोध कैसे सम्भव था। उनका शरीर आघात-प्रपीड़ित भी नहीं होता था। उनका प्रतिरोध करने का कोई अर्थ नहीं था। उन्हें आहत भी नहीं किया जा सकता था।

कुशल थी कि परशुराम केवल क्षत्रियों का संहार कर रहे थे। वे सुर-असुर - सबको मार देते तो कोई उनका क्या बिगाड़ लेता?

बहुत पीछे विक्रमादित्य को भी ऐसे ही आततायी मिहिरकुल का सामना करना पड़ा। वह भी परशुराम के समान गर्व से कहता था - 'मिहिरकुल शिव का उपासक है। सृजन इसका काम नहीं है। अपने भूतनाथ स्वामी के लिए मिहिरकुल नगरों-ग्रामों की असंख्य चिताएँ प्रज्वलित करने चला है। मेरे प्रभु का श्रीअंग चिता-भस्म-भूषित होता है।'

परशुराम शिव के साक्षात् शिष्य; किन्तु उनमें यह श्रद्धा भी नहीं थी। उन्होंने तो शिव के सुत से ही संग्राम किया और गणेश को एकदन्त बना दिया। परशुराम दूसरे किसी पर दया करनेवाले?

परशुराम उन्मत्त हो गये थे। विनाश के अग्रदूत बने पृथ्वी को रौंद रहे थे। क्षत्रिय-क्षत्रिय-क्षत्रिय। परशुराम को सम्भवतः स्वप्न में भी क्षत्रिय ही दीखते थे और क्षत्रिय का शिशु भी उन्हें सह्य नहीं था। वे नगर-नगर, ग्राम-ग्राम क्षत्रिय-संहार करते घूम रहे थे।

'कौन-सा क्षत्रिय-गृह? कौन-कौन क्षत्रिय? परशुराम की हुंकार गुँजा करती थी। पृथ्वी नर-शोणित से अपवित्र होती जा रही

थी। अकारण बालक, युवा, वृद्ध मारे जा रहे थे। परशुराम को यह देखने का अवकाश नहीं कि जिसे उन्होंने परशु से काटा - वह पूरा मर भी गया या नहीं। शव का क्या होता है, यह वे क्यों सोचें।

परशुराम के आतंक ने उद्धत, दस्युप्राय क्षत्रियों को दयनीय बना दिया। मनुष्य प्रायः आपत्ति में आस्तिक हो जाता है। अतः सब सीधे, धर्मात्मा बनने लगे थे। उपद्रव समाप्त हो गये। देश में शान्ति थी; किन्तु शमशान की शान्ति। आतंक का नीरवनपना।

क्षत्रियों में संगठन नहीं था, यह आक्षेप व्यर्थ है। जिसने सहस्त्रार्जुन को पुत्रों के साथ बलि-पशु बना डाला था, उसका कोई संगठित होकर भी कया बिगाड़ लेता? परशुराम केवल दीखने में मानव थे। दिव्य तेज, दिव्य शक्ति ने जैसे संहारिका-रूप ले लिया उनके आकार में।

'परशुराम पोंगा है।' सुभद्र को परशुराम से चिढ़ थी। वह कहता है - 'उसे क्षत्रिय-विनाश ही करना है तो इन्द्र से संग्राम करे। यम से युद्ध में उतरे। वरुण या विष्णु से टकरा देखे। अल्पप्राण मानवों का संहार करता है। पृथ्वी को निःक्षत्रिय करेगा। कोई धरा को वृश्चिक-सर्पहीन तो बना नहीं पाता। क्षत्रिय तो फिर भी मनुष्य हैं।'

आपको विचित्र नहीं लगता कि परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन किया? यह गणित स्वयं परशुराम को नहीं आया। वे एक संहार-चक्र पूरा करके यज्ञ करते थे और ब्राह्मणों को पूरी पृथ्वी का दान कर देते थे। यज्ञ का अन्त होते ही पुनः परशु उठाते और हत्या का दूसरा क्रम प्रारम्भ होता।

'आपको सम्पूर्ण पूर्व दिशा, आपको पश्चिम' - इस प्रकार परशुराम पृथ्वीदान का संकल्प करते थे। यह उनका दर्प ही था। दान-गृहीता ऋषिगण चुपचाप दान लेते थे। एक अतिशय क्रोधी को उत्तेजित करने का पाप वे क्यों लें? उन्हें पृथ्वी का प्रयोजन भी क्या था? परशुराम यज्ञ में लगकर कुछ दिन शान्त बने रहें, ऋषि यही चाहते थे।

अन्तिम बार यज्ञ में जब महर्षि भृगु को परशुराम ने पूरी पृथ्वी दान की तो भृगु को सरल उपाय मिल गया। उन्होंने परशुराम पर ही प्रतिबन्ध लगाया - 'तुम मेरी पृथ्वी पर रात्रि-विश्राम मत करना।'

परशुराम को पश्चिम-समुद्र से स्थान लेना पड़ा। उनकी प्रतिहिंसा-यात्रा असम्भव हो गयी।

पृथ्वी निःक्षत्रिय हो जाती तो परशुराम को इक्कीस बार संहार ही क्यों करना पड़ता? परशुराम ने तो अपने दर्प में कभी नहीं देखा कि कितने प्रदेश पूरे बचते हैं। कहाँ, कितने क्षत्रिय शेष रहते हैं।

अयोध्या का एक अधिपति रानियों के मध्य बैठ गया। परशुराम को उन सतियों ने स्पष्ट कह दिया - 'हमारे कण्ठ काटे बिना आप हमारे पति तक पहुँच नहीं सकते।'

जो पति के शव के साथ ही चितारोहण करती हैं, वे पति को सप्राण रखने के लिए मरने में संकोच करेंगी, यह मान लेने जितने मूर्ख परशुराम नहीं थे। उन्हें उस नारी कवच को छोड़ना पड़ा। स्त्री-वध वे कर नहीं सकते थे।

'प्रशप्त न होना हो तो मिथिला की ओर मुख मत करना।' महर्षि याज्ञवल्क ने संदेश भेज दिया और उसका अतिक्रमण करने का साहस परशुराम में नहीं था।

विश्वामित्र परशुरामजी के पिता जमदग्नि के मामा थे। महाराज गाधि और विश्वामित्र की संतानों पर परशु उठाने का स्मरण ही परशुराम को नहीं आया।

आप जानते हैं कि प्राणरक्षा के लिए असत्य बोलना भी पाप नहीं है। सहस्त्रशः क्षत्रिय ब्राह्मणों-मुनियों के आश्रमों में पहुँचते थे। वे अपने को ब्राह्मण कह दें या अपने आश्रितों की रक्षा के लिए ये ब्राह्मण उन्हें ब्राह्मण कह दें तो कोई अपराध था?

परशुराम से माताएं अपने शिशु छिपावेंगी या उन्हें मारने का अवसर देंगी परशुराम को? केवल गर्भस्थ बच्चे ही नहीं बचते थे। बहुत से बालक भी क्षत्राणियाँ बचा ही लेती थीं।

परशुराम के पीठ फेरते ही विप्रों के यहाँ छिपे क्षत्रिय अपना राज्य-सदन सँभाल लेते थे। परशुराम की दूसरी यात्रा तो तब होती थी, जब पहली यात्रा के समय के गर्भस्थ शिशु भी उत्पन्न होकर युवक हो जाते थे।

परशुराम की प्रथम यात्रा में बहुत अधिक क्षत्रिय मारे गये। उत्तरोत्तर वे सावधान होते गये। परशुराम को संतोष होता गया कि पृथ्वी नि:क्षत्रिय हो रही है। यज्ञान्त में भूमिदान तो उनका भ्रम था

और कोई गृहीता ऋषि उनके इस भ्रम को भंग करने का पाप नहीं लेना चाहता था।

परशुराम के आतंक ने एक प्रथा क्षत्रियों में प्रचलित कर दी। आप उसे कुप्रथा कह लें; किन्तु वह समय की आवश्यकता थी। अपनी जाति, अपने समाज की सुरक्षा के लिए क्षत्रियों को सचिन्त होना पड़ा। उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिए यह प्रथा अपनायी।

परशुराम स्त्री-वध नहीं करते थे। वे तरुण, युवा क्षत्रियों का विशेष रूप से संहार करते थे। जो स्त्रियाँ पति के साथ सती हो जाती थीं, उनकी तो कोई समस्या नहीं थी; किन्तु जो कुमारिकाएँ बच जाती थीं, उनकी संख्या बहुत हो गयी परशुराम के पहले संहार के ही पश्चात्। अतः क्षत्रियों ने बहु-विवाह स्वीकार कर लिया।

उनकी संख्या-वृद्धि भी आवश्यक थी; क्योंकि तब क्षत्रिय ही सैनिक हो सकता था। कभी किसी काल में समाज को सेना और पुलिस की आवश्यकता नहीं रही, यह भूतकाल में सम्भव नहीं हुआ। भविष्य में अभी सम्भव नहीं लगता। पुलिस और सेना - दोनों का दायित्व क्षत्रिय पर था। क्षत्रिय ही समाज का सुरक्षा-

प्रहरी था। अत: उसकी पर्याप्त संख्या तो अनिवार्य आवश्यकता थी। क्रोधान्ध परशुराम इस सुरक्षा को नष्ट करने पर तुले थे; किन्तु स्रुवा संभालनेवाले तपस्वियों की शक्ति का अनुमान उन्हें भी नहीं था। इन तपस्वियों ने क्षत्रियों का समर्थन ही नहीं किया, उन्हें वैश्य एवं शूद्र-कन्याओं के पाणि-ग्रहण का अधिकार भी दिया। प्रोत्साहन देते रहे ऐसे विवाहों को। फलत: कहीं-कहीं तो सहस्राधिक विवाह राजाओं ने कर लिये। बहु-विवाह, अधिक संतानोत्पादक समाज में सम्मानित हो गया।

सुभद्र के लिए भी परशुराम समस्या बन गये थे । सुभद्र ब्राह्मण-कुमार था। परशुराम ने तो ब्राह्मण-वंश कहकर दशग्रीव और उसके अनुचरों को छोड़ रखा था। परशुराम व्यक्तिगत प्रतिहिंसा-प्रेरित थे। उन्हें न सुर-साधु-संकट की चिन्ता थी और न धर्मद्रोहियों से कोई चिढ़ थी। धर्म-स्थापन में सहयोग देने की भी कभी इच्छा नहीं की उन्होंने। उनके पिता का वध क्षत्रिय-कुमारों ने किया था, अतः वे क्षत्रिय-द्रोही थे। इतने पर भी सुभद्र के लिए वे विकट समस्या बन गये थे।

परशुराम के आतंक से आश्रय पाने के लिए क्षत्रियों को केवल ब्राह्मणों की शरण लेनी थी। जो जितना एकान्तप्रिय, जितने निर्जन में जिसका आवास, वह उतना सुरक्षित समझा जाता था।

उसके समीप उतने अधिक आश्रयार्थी पहुँचते थे। कोई अरण्यानी तपस्वी प्राणभय से भागकर शरण लेने आये को अपने यहाँ से भगा सकेगा?

सुभद्र एकान्तप्रिय और अब निर्जन अरण्य में जहाँ जल सुगम था, तपस्वियों के आश्रम बन गये थे। इन आश्रमों में आश्रय लेने आये लोगों की भीड़ मिलती थी। सुभद्र को इससे कहीं टिकने को स्थान नहीं मिलता था। वह एक रात्रि से अधिक कहीं अतिथि बन नहीं पाता था।

'यहाँ आपको असत्य-भाषण की आवश्यकता अभी नहीं है।' अनेक स्थानों पर संदेह किया गया कि सुभद्र भी कोई आश्रय लेने आया क्षत्रिय-कुमार ही है। उसका शास्त्रज्ञान भी इसमें सहायक नहीं हो सकता था; क्योंकि असंख्य क्षत्रिय उन दिनों श्रुति के प्रकाण्ड पण्डित थे।

सुभद्र को इस परिस्थिति ने बहुत अधिक खिन्न किया। वह जनपदों से ही दूर नहीं गया, आश्रमों से भी दूर होता गया। उसने जैसे एक दिन गहन हिमालय से दक्षिण-यात्रा प्रारम्भ की थी, वैसे ही अब हिमालय में उत्तरोत्तर उत्तर बड़ता चला गया। उसे इस समय मानव-समाज से ही उपरति हो गयी थी।

प्रतिमा पूजन-

अप्रतिम-प्रभाव कलापग्राम - यह मत पूछिये कि कहाँ है। सृष्टि के संचालक का यह सुरक्षा-कोश इतना सुगम नहीं कि आप सरलता से या कष्ट उठाकर यहाँ पहुँच जायँगे। होने को तो यह श्रीबद्रीनाथधाम के कुछ आगे माना गाँव के आस-पास ही होना चाहिये; किन्तु जब माना गाँव के निवासी पर्वतीय ही उसे नहीं पाते, चीनी सैनिक अथवा पर्वतारोही क्या पा सकते थे?

दिव्य शक्तियाँ स्थूलदर्शी साधारण मानव लिए दृश्य नहीं बना करती। कलापग्राम तो कल्पान्त-जीवी परम तापसों की स्थली है। सृष्टिकर्ता वहाँ प्रलय के भी पश्चात के लिए प्राण एवं ज्ञान का, साधन का बीज सुरक्षित रखते हैं। अतः वहाँ का जो जितना अंश वहीं के कोई तपःसिद्ध दिखलाना चाहें, वही और उतना ही दूसरों की दीख सकता है।

सुभद्र कलापग्राम पहुँच गया। उसके लिए वह दिव्यस्थल अदृश्य भी नहीं रहा; किन्तु उसमें उसने कोई रुचि नहीं ली। अकल्पनीय दीर्घकाय, पता नहीं कबसे समाधि में स्थित वे श्वेत-केश तेजोमय लोग। सुभद्र की रुचि समाधि में नहीं थी। वह एक बार घूम आया सबके सम्मुख। उसने गिना भी नहीं कि कितने शत

महात्मा वहाँ हैं। सब निमीलित नेत्र, अत: किसी का स्पर्श या किसी का वन्दन अनावश्यक था। सब जैसे शिलामूर्तियाँ हों।

अदृश्य हो गया सुभद्र के लिए भी वह स्वप्नलोक। उसे अच्छा ही लगा। ऐसे स्थान में वह क्या करता, जहाँ उसकी ओर न कोई देखता था, न बोलता था। अवश्य एक अति-दीर्घकाय के तेजोमय प्रकट हो गये।

'आप मेरे प्रणम्य हैं।' उन महापुरुष ने स्वयं हाथ जोड़कर मस्तक झुकाया - 'मैं इक्ष्वाकुगोत्रीय मरु।'

सुभद्र सिर उठाये उन्हें देखता रह गया। उन्होंने ही कहा - 'सृष्टिकर्ता के चार कुमार केवल पाँच-छः वर्ष के बने रहते हैं; किन्तु वे बालक तो नहीं माने जा सकते। आपका दिव्य देह युगानुरूप होता रहता है, आप नित्य-किशोर बने रहते हैं; किन्तु सृष्टि के प्रथम कल्प के सतयुग में अवतीर्ण महापुरुष हम जो भी यहाँ हैं, सबके पूर्वजन्मा हैं। वय, विद्या, वैराग्य में आप सब प्रकार ज्येष्ठ हैं। समाधि से भी निरपेक्ष आपका मैं यहां के सबकी ओर से वन्दन करता हूँ।

मरु ने मस्तक झुकाया पुनः। आज तक तो सुभद्र ने अपने शरीर की इस विशिष्टता की ओर ध्यान ही नहीं दिया था। वह किसी को 'वत्स' नहीं कहता था। कोई वृद्ध उसे 'वत्स' कहे तो उसे प्रसन्नता ही होती थी। दूसरे जटा-दाढ़ीवाले उससे अल्प-आयु के हैं उसके सम्मुख शिशु हैं, यह बात कभी उसके मन में नहीं आयी।

'आप जब तक चाहें, यहाँ निवास करें।' मरु ने कहा - 'आपका आतिथ्य हम सबका सौभाग्य। आपको असुविधा न हो, केवल इसलिये कलापग्राम अदृश्य हुआ है। आप जब चाहेंगे, वह दृश्य होगा। जिसे कोई आज्ञा देंगे, समाधि त्यागकर वह उसका पालन करेगा। आप संकोच न करें।'

'मुझे तो कुछ नहीं चाहिये।' सुभद्र ने सहजभाव से कह दिया - 'कन्हाई मेरी सँभाल स्वयं कर लेगा और यह तो अम्बा पार्वती का पितृ-गेह है। मुझ दौहित्र की उपेक्षा ये मातामह नगाधिराज भी नहीं करेंगे।'

मरु भी अदृश्य हो गये। सुभद्र ने फिर नहीं सोचा कि इस हिमप्रदेश में उसके लिए सुखद गुहा, मृदुल तृणास्तरण कैसे प्रस्तुत हुआ और प्रतिदिन समय पर उसकी गुहा के पाषाण-पात्र में अनजाना स्वादिष्ट आहार किसी की संकल्प-शक्ति से उपस्थित

होता है। वह तो अलकनन्दा में स्नान करता तो जल उसे शीतल नहीं लगता था। हिम-शिखरों के ऊपर घूम आता। श्रीवन (लक्ष्मी-वन) का भुजंपत्र-तरुवन उसे प्रिय था। उसे हिमदंश तो क्या होता - कभी हिमपात ने उसका अभिषेक भी नहीं किया।

मरु मिलते रहते थे कभी-कभी। किन्तु उन्हें कलियुग के अन्त में भारत में सूर्यवंश की स्थापना करनी थी। वे उसी की योजना में मग्न थे। पता नहीं, वे किन्हीं को पृथ्वी पर भी प्रेरणा देते थे या नहीं; लेकिन उनकी चर्चा के विषय थे भगवान कल्कि और कल्कि के प्रशिक्षक परशुराम।

'जैसी गुरु, वैसा ही शिष्य मिलना है उसे।' सुभद्र झल्ला उठता था - 'परशुराम ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न होकर असंख्य हत्या कर रहे हैं और कल्कि को भी ब्राह्मणपुत्र ही होना है। वे भी संहार का व्रत लेकर आने वाले हैं।'

कलापग्राम के कल्पजीवियों के लिए काल का कोई अर्थ नहीं। वे युगों की ही गणना नहीं करते तो वर्ष कौन गिनता वहाँ। अतः कितना समय बीता, पता नहीं; पर सुभद्र प्रसन्न हुआ जब एक दिन अकस्मात वहाँ प्रतीप पहुँचे। चन्द्रवंश में उत्पन्न भीष्म के पिता शांतनु के बड़े भाई प्रतीप।

प्रतीप को भी कल्कि की प्रतीक्षा थी। उन्हें भी कलियुग के अन्त में भारत में क्षत्रियों के चन्द्रवंश के बीज रूप में यहाँ सुरक्षित किया गया था। उनका मरु से सहज-सख्य हो गया। लेकिन प्रतीप एक प्रतिमा साथ ले आये थे। उस प्रतिमा को देखकर सुभद्र सुप्रसन्न हो गया था। प्रतिमा छोटी ही थी। धनुर्धर श्रीराम की प्रतिमा।

'परात्पर पुरुष ने इस रूप में अयोध्या में अवतार धारण किया।' प्रतीप ने बतलाया - 'मेरे तो ये आराध्य हैं। मर्यादा-पुरुषोत्तम होकर त्रेतान्त में अवतीर्ण हुए। परशुराम का दर्प इन्हें देखकर दलित हो गया। उनका वैष्णव-तेज आकृष्ट कर लिया इन्होंने और सुर-साधु-शत्रु दशग्रीव को समर-शैया दे दी।'

'मेरा वंश धन्य हुआ। मरु उल्लसित हुए - 'सूर्यवंश प्रात: स्मरणीय बन गया। श्रीदशरथनन्दन होकर राम ने मुझे भी गौरव दिया।'

'मैं इनके दर्शन करूंगा।' सुभद्र तत्काल चल देने वाला था।

'आप कहाँ दर्शन करेंगे?' प्रतीप ने रोका - 'ये परमप्रभु तो साकेत पधारे। भारत-धरा पर तो अब द्वापर चल रहा है।'

'मैं यदि पुनर्जन्म पा सकूँ मानव योनि में' सुभद्र गम्भीर हो गया - 'इनका वंशज बनकर जन्म लूंगा।'

'आप सब कर सकते हैं।' मरु बोले - 'लेकिन आप इस शरीर से मेरे साथ भारत-धरा पर क्यों नहीं चलते? द्वापर आ ही गया है, अब कलियुग का अन्त होने में काल ही कितना बच गया है। भगवान् कल्कि अवतीर्ण होंगे।'

'मुझे पूरी चतुर्युगी पृथ्वी पर रहना है।' सुभद्र ने अपना तत्काल चल देने का निश्चय फिर भी नहीं छोड़ा - 'मैं सतयुग और त्रेता तो देख ही चुका। द्वापर यहाँ व्यतीत करना उत्तम नहीं; किन्तु आप मुझे इस प्रतिमा का पूजन कर लेने देंगे?'

प्रतीप को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी। सुभद्र जब वहाँ प्रतिमा का पूजन करके चलने लगा, प्रतीप ने कुछ सूचनाएँ दी।

बात यह है कि प्रतीकोपासना तो अनादि है। शालग्राम और शिवलिंग का पूजन सदा से होता रहा है; किन्तु मन्दिरों में बेर (सांगमूर्ति) की स्थापना द्वापर के प्रारम्भ में ही प्रचलित हुई।

'अब अर्चा-विग्रह के रूप में ही सब धरापर स्थित रहेंगे।' भगवान् सदाशिव ने वाराणसी में यह विधान किया। उससे पूर्व तो सुर मानव के मध्य सहज बस जाते थे। स्वयं शशांकशेखर काशी में भवानीके साथ रहते ही थे। दिवादास ने अवश्य धूर्जटि के साथ देवताओं को काशी से निर्वासित कर दिया था; किन्तु वह तो कब का कौशलपूर्वक वैकुण्ठवासी बनाया जा चुका।[5] 'काशी पृथ्वी का अंग नहीं मानी जायगी' - यह घोषणा तभी बाबा विश्वनाथ ने कर दी थी।

अब द्वापर में मनुष्य की श्रद्धा का अवमूल्यन हो गया था। अतीन्द्रिय विषय में मनुष्य शंकाशील हो उठा था। अतः धरा सुरों के रहने योग्य नहीं रही थी।

परमप्रभु का संकल्प देश-काल की सीमा में नहीं बँधा करता। हम-आप जानते हैं कि श्रीकृष्ण ने, केवल ब्रज में इन्द्र-पूजा का निषेध किया था। वैदिक देवता इन्द्र का पूजन चला गया

---

[5] यह पूरी कथा 'शिव-चरित' में गयी है।

और देश गोवर्धन-पूजन करने लगा। ऐसे ही भोलेबाबा ने वाराणसी में सुरों को अर्चा-विग्रह-रूप में स्थित होने को कहा तो पूरे देश के मन्दिरों में उनके बेर की प्रतिष्ठा चलने लगी। अवश्य ही शिव-मन्दिरों में सांगमूर्ति कम बनीं; क्योंकि बाबा वाराणसी में ही विश्व-नाथलिंग में एक हो गये; लेकिन अन्य देवता सांगमूर्ति रूप में रहे। विष्णु-मन्दिरों में शालग्राम बने रहे; किन्तु सांगमूर्ति प्रतिष्ठित हो गयी।

सुभद्र ने यह सुन लिया। उसने प्रतीप से उनके द्वारा लायी मूर्ति पाने की प्रार्थना की होती तो प्रतीप अस्वीकार नहीं करते; किन्तु सुभद्र को यह उचित नहीं लगा। किसी की भी आराध्य-मूर्ति माँगना उचित नहीं है। सुभद्र अपरिग्रही है। वह मूर्ति लेकर अर्चा के बन्धन में पड़ जाता, यह उसके लिए सुविधाजनक नहीं था।

सच बात तो यह कि सुभद्र ने उस मूर्ति का अर्चन अवश्य कर लिया था; किन्तु उसे अपना आराध्य बना नहीं सकता था। कोई मूर्ति केवल बाह्य पूजन से तो आराध्य बना नहीं करती। आराध्य वह, जो अन्तर में प्रतिष्ठित हो। सुभद्र चाहे भी तो भी उसके अन्तर में उसके कन्हाई के अतिरिक्त दूसरा प्रवेश नहीं पाता।

सुभद्र ने एक बार पुनः कलापग्राम का साक्षात्कार किया। वहाँ के तपस्वियों के फिर एक बार सम्मुख घूम आया। इस बार संकोचपूर्वक घूम आया। वह डर रहा था कि ये तपस्वी उसे मरु की भाँति ज्येष्ठ कहकर प्रणाम करने लगेंगे। वह औरों को प्रणाम करने में आनन्दानुभव करता है; किन्तु उसे वृद्ध श्वेतकेश लोग प्रणाम करने लगें, इससे वह बहुत धबराता है। आपको लोग बलात् वृद्ध बना दें तो आप प्रसन्न होंगे?

'आप भारतभूमि पर तो जा ही रहे हैं।' मरु ने कुछ कहने का उपक्रम किया।

'मैं आपके भगवान् परशुराम के पास नहीं जाऊँगा।' सुभद्र ने बीच में ही प्रतिवाद किया - 'आपने सुन ही लिया है प्रतीप से कि अब वे दक्षिण-भारत में महेन्द्रगिरि (मंडासा पर्वत अब नाम है) पर तप करने लगे हैं। उन्हें कोई संदेश देना हो तो आप स्वयं कष्ट करें।'

'मैं इतनी धृष्टता नहीं करूँगा।' मरु विनम्र बने रहे।

'तब आपकी बात सुनूँगा।' सुभद्र को संकोच होना स्वाभाविक है। उसे इतना धैर्यहीन नहीं होना था।

'यहाँ कलापग्राम से समीप ही बदरीवन में शम्याप्रास है।' मरु ने बतलाया - 'केवल एक शमीतरु अलंकनन्दा में जहाँ सरस्वती का संगम होता है, उसके समीप शमीतरु देखकर आपको भगवान् व्यास की गुहा का अन्वेषण करने में कष्ट नहीं होगा। वे युगपुरुष हैं। द्वापरयुग के अधिष्ठाता। द्वापर एवं कलि के शास्त्रमूर्ति। उनका दर्शन करके आप प्रसन्न होंगे।'

'परशुराम के समान कंधे पर वे परशु या भल्ला नहीं रखते होंगे?' सुभद्र ने विनोदवश ही पूछा। वैसे उसे परशु या भल्ल से कभी भय नहीं लगा। वह अपने को 'सिंह-वाहिनी' का सुत कहता है, उसे कोई भीत कर कैसे सकता है।

'वे प्रशान्तमूर्ति - शस्त्रों का उन्हें क्या प्रयोजन।' मरू ने प्रश्न का बुरा नहीं माना।

'मैं अभी उनके दर्शन करूँगा।' निर्णय करके कल पर छोड़ना सुभद्र का स्वभाव नहीं है।

भगवान व्यास-

'अतिथि पधारे हैं, अतः हम हम इनका सत्कार करेंगे। आज अनध्याय रहेगा।' व्यासजी ने सुभद्र को देखते ही शिष्यों का अध्यापन समाप्त करके उनको सत्कार-सामग्री लाने में लगा दिया।

उन दिनों बदरीवन था वहाँ। बेर के बड़े वृक्ष तो नहीं थे; किन्तु झरबेरी की झाड़ियाँ चारों ओर थीं। इतना शीत नहीं था, जितना अब है। उस समय हिम-प्रदेश लक्ष्मीवन से ऊपर प्रारम्भ होता था।

सुभद्र को चाहे जितना संकोच हो, वह आतिथ्य स्वीकार करने को विवश था। इसका अभ्यस्त हो चुका था। अर्घ्य के उपरान्त जब आसन ग्रहण कर चुका, अर्चा हो चुकी, तब उसने कहा - 'अनध्याय आवश्यक तो नहीं है। अध्ययन में मैं व्याघात नहीं बनूंगा। यदि आप अनधिकारी न माने तो मैं भी पाठ-श्रवण करूं।'

'आपको तो इसका प्रयोजन नहीं है।' भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायन ने कहा - 'मैं वेदों का चतुर्धा-विभाग यज्ञ के प्रयोजन से कर रहा हूँ।'

'चतुर्धा-विभाग?' सुभद्र को एक नवीन तथ्य लगा।

'यह विभाग तो अब भी बना हुआ है।' भगवान् व्यास ने बतलाया - 'अब भी यज्ञ में ऋत्विक, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्राह्मण का वरण होता है। चारों अपना अपना कार्य ही करते हैं। मैं केवल यह कर रहा हूँ कि उनमें से प्रत्येक की जिन मन्त्रों से प्रयोजन पड़ता है, उनका पृथक्-पृथक् अध्ययन करा रहा हूँ। सम्पूर्ण वेद को कण्ठस्थ करने की अनिवार्यता समाप्त कर रहा हूँ; क्योंकि आगे कलियुग में मानव की स्मरण-शक्ति क्षीण हो जायगी। वे सम्पूर्ण वेद स्मरण नहीं रख सकेंगे।'

'ब्राह्मण विवश नहीं हो जायगा कोई एक ही यज्ञीय कर्म करने के लिए?' सुभद्र ने शंका की - 'जिस यज्ञ में वही स्थान सुलभ न हो, वहाँ वह प्रवेश ही नहीं पा सकेगा।'

'कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि कोई सम्पूर्ण वेद, अर्थात चारों विभाग स्मरण न रखे। चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी भी रहेंगे ही।' व्यासजी ने कहा - 'किन्तु कलि में तो एक वेद को भी स्मरण रखनेवाले कठिन हो जायेंगे। अतः मेरे शिष्यों ने तो अपनी संहिताओं की भी शाखाएँ करनी प्रारम्भ कर दी हैं।'

'शाखाएं? सम्पूर्ण एक यज्ञीय कर्म के मन्त्र भी नहीं?" सुभद्र की शंका थी - 'क्या होता अथवा अध्वर्यु का कार्य कई व्यक्ति मिलकर सम्पन्न करेंगे?'

सुभद्र सम्पूर्ण वेद का षडंग-ज्ञाता था। यज्ञ के सब कार्यों को सम्पन्न करने में निपुण। उसे नहीं सूचित करना था कि होता, अध्वर्यु, उद्गाता एवं ब्रह्मा के प्रयोजनीय मन्त्र कौन-से हैं। अत: विभाजन उसकी समझ में शीघ्र आ गया। वह यह भी समझ गया कि एक ही मन्त्र प्रयोजनवशात् अन्य विभाजन में आवेंगे - बहुत आवेंगे; किन्तु शाखा का तात्पर्य उसने भी अंश ही समझा।

'शाखा-विभाजन तो स्मरण की सुविधा के लिए है।' व्यासजी ने बतलाया - 'एक प्रयोजन से पूरे मन्त्र, अर्थात् एक पूरा वेद तो स्मरण करना ही है। मैंने शिष्यों को स्वतन्त्र कर दिया है कि मन्त्रों के कण्ठस्थ करने का क्रम वे स्वेच्छानुसार रखें। कोई देवता-क्रम से मन्त्र कण्ठस्थ करेगा, कोई छन्दक्रम से या प्रयोजन-विनियोग-क्रम से। यह क्रम-भेद ही शाखा कहलाता है।'

'महत्कार्य किया आपने।' सुभद्र ने स्तुति की। इस विभाजन एवं सम्पादन-क्रम पर तो अभी तक किसी महर्षि ने ध्यान ही नहीं दिया था।

'महत्कार्य कहाँ हुआ!' भगवान् व्यास का स्वर शिथिल हो गया। केवल शिष्टाचार नहीं, उनकी वाणी में व्यथा थी - 'सृष्टिकर्ता ने ही वेदार्थ स्पष्ट करने के लिए, श्रुति में आये नित्य इतिहास और निष्ठाओं के प्रतिपादन के लिए पुराणों का सृजन किया था। काल की दीर्घता से वे लुप्त हो गये। सतयुग में उनका प्रयोजन ही नहीं था, अतः वे उपेक्षित हो गये। अब द्वापर में मनुष्य शंकालु हो गया है। श्रुति-तात्पर्य के साक्षात्कार की योग्यता रही नहीं और श्रद्धा शिथिल हो गयी। कलि में क्या होगा इन प्राणियों का?'

'कन्हाई इसमें बहुत निपुण है कि अपना काम दूसरों के कंधों पर लाद देता है।' सुभद्र हँसा नहीं, यही बहुत है। लेकिल कह गया - 'सृष्टि की तो उसे संभालने का भी दायित्व उसका; किन्तु आपसे-समर्थ महापुरुषों को सचिन्त करके स्वयं आनन्द मनाता है।'

'यह सेवा भी कहाँ हो पा रही है।' व्यासजी सुभद्र का मर्म समझने की स्थिति में नहीं थे। वे अपनी धुन में कह रहे थे - 'भगवान् नर-नारायण का सान्निध्य प्राप्त है। वे सानुकूल हैं। सरस्वती का पावन तट है। स्त्री-शूद्र ही नहीं, कलि में तो द्विज भी नाममात्र के द्विज रह जायेंगे। उन व्रात्य बने लोगों के लिए भी धर्म सुलभ हो जाय, श्रुति का सम्पूर्ण तात्पर्य अप्राप्य न रहे, यह सोचकर किसी इतिहास का आश्रयण करके कुछ प्रणयन की इच्छा की; किन्तु अभी न उपयुक्त इतिहास मिला, न उसका लेखक। पुराणों का भी प्रणयन करना है; किन्तु......।'

'उनके अध्ययन का अधिकारी भी आ जायगा।' सुभद्र ने सहज कह दिया - 'आप-जैसे महत्पुरुषों के संकल्प को कन्हाई अधूरा नहीं रहने देता।'

'आप यदि कृपा करें।' व्यासजी ने बड़े उत्साह से सुभद्र की ओर देखा।

'मुझ पर तो आप दया करें!' सुभद्र ने हाथ जोड़ लिया - 'मैं भारतभूमि के दर्शन को चलने लगा तो कलापग्राम में मरु ने आपका आशीर्वाद लेते जाने को प्रेरणा दी।'

'आपने इस तथ्य पर अब तक ध्यान नहीं दिया कि आपका देह दिव्य है।' लोकादर्श के स्थापन में लगे पुरुष की चिन्ता का विषय सदा से यही रहा है कि लोग आदर्श-च्युत न हो जायें। व्यासजी के लिए यह चिन्ता स्वाभाविक थी - 'आप अदृश्य भी नहीं रहते सामान्य मानव-नेत्रों से। सृष्टि की मर्यादा यह है कि अमर पुरुष सामान्य जनों के लिए अदृश्य रहे। वे केवल अधिकारी पुरुषों को ही दर्शन दें।'

'कलापग्राम पूरा यही करता है।' सुभद्र का ध्यान अब इस तथ्य की ओर गया - 'मरु भी मुझे सदा दीखते नहीं थे। प्रतीप भी अब कदाचित ऐसा ही करें।'

'मैं स्वयं भी ऐसा आचरण करने को उचित मानता हूँ।' भगवान व्यास बोले - 'अब तक तो कोई कठिनाई नहीं थी। कुछ दिनों तक आगे भी नहीं रहेगी। सतयुग से द्वापरान्त तक देवता भी मानवों के लिए दृश्य रहते हैं। प्रत्यक्ष मिलते हैं। वैसे अब देवताओं ने पृथ्वी पर स्थायी निवास त्याग दिया है।'

'प्रतीप ने बतलाया है कि देवता अब सांग-अर्चा-विग्रह के रूप में आराधना स्वीकार करते हैं।' सुभद्र ने सुनी बात दुहरा दी।

'दिव्य-देह अमर-पुरुषों के लिए भी अब यही उचित मार्ग है।' व्यासजी मानो मर्यादा ही स्थापित कर रहे थे।

'अर्थात वे भी अर्चा-विग्रह बन जायँ?' सुभद्र इस प्रकार व्यासजी को देखने लगा, जैसे सोच रहा हो कि ये पाषाण-प्रतिमा बन गये तो पहचान में आवेंगे या नहीं।

'अर्चा-विग्रह तो उन्हें बनना है, जिन्हें मानव की आराधना स्वीकार करनी है।' व्यासजी ने अभिप्राय का स्पष्टीकरण किया - 'अन्य अमर-पुरुषों को अदृश्य रहना चाहिये। वे केवल अधिकारी व्यक्ति के सम्मुख अल्पकाल को प्रकट हो सकते हैं।'

'मुझे तो पृथ्वी पर चतुर्युगी व्यतीत करने का शाप है।' सुभद्र ने कहा - 'दो युग मैं देख चुका। अब अदृश्य बन जाऊँ तो उस शाप की सार्थकता नहीं होगी।'

'नहीं होगी।' व्यासजी ने स्वीकार किया; किन्तु. उन्होंने दूसरी बात कही - 'आपको अपने देह की आसक्ति तो है नहीं। इसी रूप में आप धरा पर बने रहें, ऐसा आग्रह रखने का कोई कारण है?'

'मेरा तो कोई आग्रह नहीं है।' सुभद्र का सचसुच आग्रह कहाँ रहा कि वह इसी रूप में बना रहे - 'कन्हाई को जो अच्छा लगे, मुझे वह स्वीकार रहा है सदा।'

'वे आपकी इच्छा न होने पर कुछ नहीं करेंगे आपके सम्बन्ध में।' व्यासजी ने अब देर तक नेत्र बंद करके ध्यान करने के पश्चात् कहा - 'जब तक आप ही देह-परिवर्तन की इच्छा नहीं करेंगे, काल आपका स्पर्श करने में समर्थ नहीं होगा। आपके सखा केवल आपके अनुकूल व्यवस्था की चिन्ता करते हैं।'

'यह मैं जानता हूँ।' सुभद्र सोल्लास बोला - 'कन्हाई को सदा अपनों की चिन्ता रहती है। उसकी व्यवस्था पर अपने को छोड़ कर कोई भी निर्भय, निश्चिन्त रह सकता है। आप अपना कोई कार्य उस पर छोड़ दे सकते हो। निश्चिन्त रह सकते हो कि वह कार्य अपूर्ण नहीं रहेगा।'

'वह सर्वाधिक परिपूर्ण होगा।' व्यासजी ने देखा कि सुभद्र को अपने सखा का सुयश सुनाने का अवकाश दिया गया तो मूल समस्या धरी रह जायगी। अत: बीच में ही बोले - 'लेकिन अपनी ओर से उनकी सेवा का पूरा प्रयत्न करना मुझ जैसे सेवकों का कर्तव्य है। मैं तो आपसे निवेदन कर रहा था कि आपको यदि

आगे भी सदेह ही संसार में रहना है तो आप शरीरों के परिवर्तित होते रहने की इच्छा क्यों न करें? आपकी इच्छानुसार ही तो शरीर-परिवर्तन होना है।'

'यह तो अच्छी बात है।' सुभद्र को अच्छा लगा - 'मैं अभी इस देह का त्याग करूँ? कौन-सा शरीर मुझे आगे स्वीकार करना है?'

'अभी नहीं।' व्यासजी ने शीघ्रतापूर्वक कहा। वे घबराये कि अतिथि के अग्नि-संस्कार का दायित्व पड़ेगा और देह-त्याग की प्रेरणा देने का पाप भी लग सकता है। पता नहीं, भक्तवत्सल मयूरमुकुटी इसे किस रूप में लें। वे असंतुष्ट हो गये तो अपना अमरत्व भी अर्थहीन हो जायगा।

'आपका कोई प्रारब्ध नहीं है, जिससे विवश आपको जन्म लेना पड़े।' व्यासजी ने अनुरोध भरे स्वर में कहा - 'आप तो केवल अपने शरीर से उपरत हों। आपके सखा स्वयं आपके अनुकूल-परिवर्तन का संयोग उपस्थित करेंगे।'

'मेरा प्रारब्ध तो है।' सुभद्र बोला - 'कन्हाई की इच्छा ही मेरा प्रारब्ध है। मैंने कब अस्वीकार किया कि वह मनमाना परिवर्तन नहीं कर सकता।'

भगवान् व्यास ने बोलना उचित नहीं समझा; लेकिन उनकी बात ने सुभद्र के मन में संकल्प जगा दिया। अब तक उसने शरीर को लेकर कभी सोचा ही नहीं था। शरीर की सुविधा के सम्बन्ध में भी, 'कन्हाई करेगा' सोचकर सदा निश्चिन्त रहा है। अब उसके मन की विचारधारा में एक परिवर्तन आया। वह सोचने लगा - 'यही शरीर क्यों?'

'यह भी कोई बात है कि मैं न जाने कब से संसार में हूं और कन्हाई साथ नहीं है।' सुभद्र को अपने-आप पर ही क्रोध आया - 'श्याम के साथ खेलने का, रहनेका अवसर नहीं है और मैं व्यर्थ की यात्रा में लगा हूँ। क्यों है यह शरीर मेरे साथ? इसका क्या उपयोग? उन सब यात्राओं और कार्यों का क्या अर्थ जो मैंने अबतक किये हैं?'

सुभद्र से कौन कहे कि त्रिभुवन में किसी के किसी कार्य का कोई अर्थ इसके अतिरिक्त नहीं है कि वह क्रीड़ामय सर्वेश की क्रीडा का एक क्रीड़ानक है। उन्हीं की इच्छा से संचालित। उन्हीं

की संतुष्टि के लिए उसका अस्तित्व है। सुभद्र तो अपनी विचारधारा में निमग्न उठा। भगवान व्यास से अनुमति ली और उस शम्याप्रास से अलकनन्दा के तट के सहारे नीचे दक्षिण की ओर चल पड़ा।

सरल समर्पण-

अकेला सुभद्र ही नहीं है, जो यह नहीं जानता कि उसका गंतव्य कहाँ है और चल पड़ता है। जिसकी क्रिया का क्या उद्देश्य है, यह उसको पता नहीं होता। सभी ऐसे ही हैं। अन्तर केवल यह है कि सुभद्र यह अहंकार नहीं पालता कि मैं जानता हूँ। दूसरे जहाँ मानते हैं कि वे कर सकते हैं, वे सब जानते हैं, अपनी क्रिया का दायित्व वहन करते हैं। सुभद्र कहता है - 'कन्हाई चपल है। उससे चुप बैठा नहीं जाता। वह स्वयं करता है और दिखाता ऐसा है कि दूसरे कर रहे हैं। मैं न कुछ करता, न कभी करूँगा। लेकिन कन्हाई का हाथ नहीं रोकूँगा। उसे जो कराना हो, कराता रहे।

इस प्रकार जिसकी जीवन-यात्रा चल रही है, उसे कब कहाँ उसके पैर पहुँचा देंगे, कोई भी कैसे कह सकता है। इसी क्रम में वह एक दिन एक गृहस्थ का अतिथि हो गया। अतिथि-सत्कार भारतीय गृहस्थ का सर्वश्रेष्ठ धर्म, अत: सुभद्र का स्वागत-सत्कार तो होना ही था।

'स्मिता' गृहपति के सम्बोधन से ही सुभद्र ने उनकी पुत्री का नाम जान लिया। अन्यथा बहुत कठिन था यह भी जानना। पिताकी किसी बात का उसने बहुत मन्द स्वर में उत्तर दिया,

केवल इससे जाना जा सका कि वह मूक नहीं है। अन्यथा वह तो जैसे बोलना जानती ही न हो। कुछ पूछो, केवल पलक उठाकर देख लेती थी अथवा सिर झुका लेती थी। इतनी संकोचशीला कन्या भी होती हैं, यह सुभद्र को पहला अनुभव हुआ।

'यह अपने अभाव की, कष्ट की कभी चर्चा नहीं करती।' पिता ने ही पुत्री के सम्बन्ध में सुनाया - 'कई बार पूछने पर तब कठिनता से इसका अभिप्राय पता लगता है।'

'यह बोलती भी है?' सुभद्र ने व्यंग्य किया - 'मैं तो समझ रहा था कि सृष्टिकर्ता इसे वाणी-वितरण विस्मृत ही हो गये।'

'लेकिन किसी गृह में इसका निर्वाह कैसे होगा?' पिता की चिन्ता उचित थी। अब सतयुग तो नहीं था कि गृहस्वामिनी एकाकी उटज में रहेगी और पति तपस्या करते रहेंगे। अब तो प्राय: बड़े गृह, बड़े परिवार प्रतिष्ठा पाते हैं। उनमें गृहस्वामिनी एकाकी कहाँ रहती हैं। सपत्नियाँ न हो तो भी ज्येष्टा-कनिष्ठाएँ अनेक होंगी। उनमें मूक बने रहने से निर्वाह कैसे सम्भव है।

'वैसे श्रमशीला है।' पिता ने पुत्री की प्रशंसा की - 'निपुण है गृह के कार्यों में और अपनी सहेलियों में सम्मानिता भी।'

सुभद्र इतनी प्रशंसा से सावधान हो गया। अतः उसने गृहपति कोई अन्यथा आशा करें, इससे पूर्व ही कहा - 'अल्पभाषिणी होना कन्या के लिए सद्गुण ही होता है। आपको उत्तम पात्र पाने में कठिनायी नहीं होगी। इसे आप मुझ नैष्ठिक ब्रह्मचारी का वरदान भी मान सकते हैं। किन्तु आपकी पुत्री को वही पा सकता है, जिसे ये स्वयं स्वीकार करे।'

'आप नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का निर्णय कर चुके हैं?' गृहपति का स्वर कहता था कि उन्हें सचमुच निराशा हुई है।

'इस जीवन के लिए।' सुभद्र ने संक्षिप्त उत्तर दिया। गृहपति को यह उत्तर भी उसने इसलिये दिया; क्योंकि भगवान् व्यास का संदेश विस्मृत नहीं हुआ है - देह तो परिवर्तित होना है और पता नहीं, कन्हाई कब इसका निमित्त उपस्थित करे।'

'कनका!' यह सम्बोधन करते-करते सुभद्र रुक गया। उसे स्मरण आया कि हेमा ने ऐसे सम्बोधन का प्रतिवाद किया था। आवश्यक तो नहीं है कि इसे अपना नाम स्मरण ही हो। इस समय गृहपति समीप नहीं थे। सुभद्र को विनोद सूझा। उसने पूछ लिया - 'तुम्हारा नाम स्त्रुवा है?'

उस कन्या ने केवल सिर उठाकर एक बार देखा। उसके मुख पर हास्य आ गया। सुभद्र बोला - 'हाँ, अब ठीक है। अब तुम अपने स्मिता नाम को सार्थक करती लगीं। मैं तो समझा था कि तुम केवल मूक आहूति देना जानती हो।'

'आपने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की बात क्यों कही?' इस बार कन्या ने नेत्र भरकर पूछा।

'तुम प्रतीक्षा कर रही थी?' सुभद्र ने उत्तर देने के स्थान पर प्रश्न ही किया; किन्तु उसे केवल सिर के संकेत से स्वीकृति सूचित की गयी। उसने फिर पूछ लिया - 'तुम्हें अपने वास्तविक नाम का पता है?'

'वही जो आप पुकारते पुकारते रह गये।' सुभद्र भी चकित रह गया इस उत्तर से। इस अत्यधिक मौन में इतनी क्षमता है, यह तो उसने अनुमान भी नहीं किया था।

'आप यह भी पूछेंगे कि मैं किसकी प्रतीक्षा कर रही थी।' उसने साश्रुनेत्र कहकर घुटनों में सिर छिपा लिया। रुदन के स्वरहीन वेग से उसका शरीर कम्पित होने लगा।

'कनका! समझने का प्रयत्न करो।' सुभद्र का स्वर स्नेह, सहानुभूति से आर्द्र हो उठा - 'अभी द्वापर का आरम्भ हुआ है। मुझे कलियुग तक धरा पर रहना है। तुम-सबको समेटने का कार्य तो मैं यहाँ के अन्तिम जीवन में करूँगा।'

'इस जीवन में?' बहुत मन्द स्वर और असीम उत्सुकता भरे उठे नेत्र।

'मेरे और भी प्रतिबिम्ब धरा पर आये हैं।' इस बार सुभद्र गम्भीर हो गया - 'तुममें-से जो जहाँ है, जब आवश्यकता होगी, उसे उनमें-से कोई सँभाल लेगा। इसमें आकुल होने की तो कोई बात नहीं है। तुम जानती हो कि कन्हाई कभी तुम्हें भूल नहीं सकता।'

'आपके अनुज तो बहुत भरोसा करने योग्य हैं।' कहकर भी वह मुस्कुरा गयी। उसकी प्रीति-विश्वास उसकी भंगी के एक-एक कण में मूर्त हो उठा। भले शब्दों में व्यंग्य-प्रतिवाद था।

'कन्हाई पर भरोसा करके निश्चिन्त रह सकती हो।' सुभद्र दूसरा कुछ कहने की स्थितिमें नहीं था।

'सुनिये! मुझे कोई प्रतिबिम्ब नहीं चाहिये।' स्मिता बहुत स्थिर-स्वर में, मस्तक उठाकर बोली - 'मुझे आपके दर्शन हो गये। आपका यह सान्निध्य मेरी स्मृति में शाश्वत रहेगा। मुझे कोई और आश्रय अपेक्षित नहीं है। आप दया करके मुझे दूसरी कोई आज्ञा अब मत देना।'

द्वापर आ गया है। त्रेता में ही कितना विषम वातावरण बन गया था, सुभद्र देख चुका है। श्रीराम ने कैसा धर्मराज्य स्थापन किया, यह सुभद्र जानता नहीं। हेमा त्रेता में ही आश्रयहीना होकर कितनी दयनीया बन गयी थी, यह सुभद्र को स्मरण आया। यह भी स्मरण आया कि स्मिता के पिता पर्याप्त वृद्ध हैं। उनका शरीर बहुत दिन बना रहे, इसकी सम्भावना नहीं है। स्मिता की माता पहले ही परलोकगामिनी न हो चुकी होती तो भी पति के पश्चात् रहना तो स्वीकार नहीं करतीं। अकेली स्मिता - वह अन्ततः एकाकिनी तो हो ही जायगी। तब?

लेकिन सुभद्र का स्वभाव चिन्ता करना नहीं है। उसे स्मिता से भी कुछ कहना उचित नहीं लगा। उसके स्वभाव का सहज विश्वास जागा - 'जो इतनी सुस्थिरा है, इतनी सहज समर्पणमयी है, उसे कन्हाई सँभालने में प्रमाद करेगा? कन्हाई सम्भाले उसके

लिए सृष्टि में कहीं, कभी संकट सम्भव है? युग और काल क्या कर लेंगे उसका?'

'तुम ठीक हो। कन्हाई तुम्हें सँभाल लेगा।' सुभद्र ने आश्वासन दे दिया। उसने ध्यान नहीं दिया कि अकस्मात् परा वाणी जाग्रत हो गयी थी और परा का स्वर सार्थक अन्यथा हो जाय, इतनी सामर्थ्य तो सृष्टि-कर्ता में भी नहीं है।

'आप आहार ग्रहण करें।' स्मिता स्वस्थ चित्त उठी। पिता कुछ अतिरिक्त पदार्थ ही लेने गये थे - गृह आये। उन्हें पुकारना तो कदाचित् ही पड़ता है। उनकी पुत्री व्यवस्था में कभी प्रमाद नहीं करती।

सुभद्र यहाँ आकर अब सोचने लगा है कि उसे किस ओर जाना है। अब तक तो कभी उसने यह विचार ही नहीं किया था। लेकिन पता नहीं क्यों रात्रि में उसके मन में यह संकल्प उठा। प्रभात में उसने गृहपति से वाराणसी का पथ पूछा। प्रतीप से वाराणसी का वर्णन सुनकर सम्भवत: मन में वहाँ पहुँचने की कोई सूक्ष्म इच्छा तब उठी होगी।

'आप वाराणसी पधारेंगे।' गृहपति प्रसन्न हुए - 'वह भगवान् विश्वनाथ की पुरी सुरसरि के तट पर है। प्रयाग का तीर्थस्थान आपको पहले ही प्राप्त होगा।'

'महाराज पृथु की राजधानी ब्रह्मावर्त, प्रियव्रत की राजधानी बर्हिष्मती और पुरूरवा की प्रतिष्ठानपुरी की अब क्या अवस्था है, यह देखता जा सकूंगा।' अनेक बार मन में अकारण ही पूर्वपरिचित स्थानों या व्यक्तियों की स्थिति जानने की उत्कण्ठा उठती है। प्राचीन से निर्मम हो जाने पर भी उनका कुछ आकर्षण शेष रह ही जाता है।

'ये सब तीर्थ हैं।' गृहपति ने कहा - 'सुना है कि प्रतिष्ठानपुरी और वाराणसी अब भी महापुरी हैं। इनका वैभव अभी अक्षुण्ण है; किन्तु ब्रह्मावर्त और बर्हिष्मति तो केवल तीर्थ होने से किसी रूप में शेष हैं। अपने भूतकाल की स्मृतिमात्र कराती हैं। अब वहाँ पुण्यकाम यात्रियों का पदार्पण ही उनको बनाये हुए हैं।'

केवल तीर्थ यात्रा की श्रद्धा सुभद्र में भी नहीं थी; किन्तु उसे पर्यटन करना ही है तो तीर्थ छोड़ क्यों दे और उन दिनों सरिता-तट छोड़ कर यात्रा करना तो अनेक समस्याएं उत्पन्न करता था। नगर-ग्राम अधिकांश सरिता-तट पर ही थे।

सुरसरि का पावन तट वैसे भी सघन बसा है। द्वापर से पूर्व ही महाराज भगीरथ के प्रयत्न से भागीरथी धारा ने पर्वतीय क्षेत्र में ही अलकनन्दा को अपने मे मिला लिया था। अब तो तीर्थराज प्रयाग में गंगा-यमुना स्नान का सुयोग था। सुभद्र के मन में इस स्थल के दर्शन की भी इच्छा होना स्वाभाविक था।

सुभद्र केवल एक दिन रहा था इस गृह में। स्मिता की बात छोड़ देनी चाहिये; लेकिन गृहपति को भी वह अपना आत्मीय लगा था। उसे विदा करने गृहपति दूर तक साथ गये। बहुत आग्रह करने पर लौटे।

'अतिथि चले गये।' लौटकर गृहपति ने द्वार पर स्थिर खड़ी पुत्री से स्वयं कहा।

'वे परिव्राजक हैं।' इतना कहकर वह शीघ्रता से अपने कक्ष में चली गयी। उसकी वेदना दूसरा कैसे समझ सकता है।

आज सुभद्र भी अपने कन्हाई को ही सोचता चला जाय, ऐसा नहीं हुआ था। पहली बार उसका मन कुछ और भी सोचने लगा था। वह सोच रहा था - स्वर्णा कितनी सुप्रसन्न मिली थी

और हेमा कितनी असहाया हो गयी थी। उसमें कन्हाई पर आस्था क्यों नहीं जागी? उस मुनि के आश्रय ने उसे निश्चिन्त किया और यह कनका - यह अपने-आप में स्वस्थ है।'

इसी क्रम में मन ने यह संकल्प भी उठाया ही - हिरण्या और काञ्चना का क्या हुआ? वे धरा पर आयी भी या नहीं? कहीं होंगी, कन्हाई उनकी चिन्ता कर लेगा।'

सुभद्र की वृत्ति ही है कि इधर-उधर भटक कर भी अपने कन्हाई के पास पहुँच जाती है। उसे पता है कि शुभ्रा भी पृथ्वी पर आयी है। उसका स्मरण भी आया; किन्तु सबको ही तो श्याम को सँभालना है। वह किसी की चिन्ता करके भी क्या करेगा।

सुभद्र को उसकी नियति अथवा उसका कन्हाई उसी ओर ले जा रहा है, जहाँ उसे पहुँचना है। जहाँ उसको कोई परिणति प्राप्त करना है। न जानकर भी सुभद्र की इसमें आस्था है।

साकार सात्विकता-

अतिथि होना सुभद्र को प्रिय नहीं है। वह अधिकांश सुरसरि के तट पर रात्रि-शयन करता है। वृक्षों में फल हों तो अन्नहार की अपेक्षा होती ही नहीं। कहीं भी अतिथि होने के लिए उसे कारण अपेक्षित होता है। ये कारण हैं - आतिथेय का अत्याग्रह, स्थान की अतिशय सुरम्यता, अथवा किसी पूर्व-संस्कार-सम्बन्ध का आकर्षण।

अब सब कारण एकत्र हो गये थे। सुरसरि के समीप ग्राम से सटा होकर भी पृथक् वह एकाकी गृह बहुत स्वच्छ, शान्त, सुरम्य लगा उसे। पुष्प, तुलसी के वीरुध और बिल्व, आँवले के वृक्ष - जैसे गृहपति ने सब उपासना का ही सम्भार एकत्र किया हो। सुरभित, सुरंग सुमनगुच्छ लिये स्वागत करती-सी सुकुमार लतिकाएँ।

सुभद्र को लगा कि कोई अज्ञात आकर्षण भी वहाँ उसका आह्वान कर रहा है। इतने पर भी कदाचित् वह उपेक्षा करके आगे बढ़ जाता; किन्तु जब जाह्नवी-स्नान करके मध्याह्न संध्या समाप्त की उसने, उसके सम्मुख एक कृशकाय, गौरवर्ण, गम्भीर तेजस्वी अंजलि बाँधे समुपस्थित मिले - 'भगवन्! समीप ही गृह है। आज

के आतिथ्य का सौभाग्य इस जन को मिले और इसका उटज चरण-रज से पावन हो। इतने अनुग्रह की आशा लेकर आया हूँ।'

'अच्छा!' सुभद्र ने अस्वीकार नहीं किया। इतना विनम्र आग्रह और अतिथि-वेला में किसी गृहस्थ का आग्रह अस्वीकार कर दिया जाय तो वह पूरा परिवार उपोषित रह जा सकता है, इस तथ्य से, सुभद्र अनभिज्ञ तो नहीं था।

गृह-स्वामिनी जैसे स्वागत को समुद्यत प्रतीक्षा ही कर सही थीं। उन्होंने अर्ध्य अर्पित करके पुकारा - 'स्निग्धा! अतिथि पधारे हैं!'

जो कुमारी माता की पुकार सुनकर आयी, लगता था कि वह अकुलाहट में आयी है। थोड़ी अस्त-व्यस्त; किन्तु शान्त, सरल, सात्विक।

'भद्रे! लगता है कि तुम कुछ आवश्यक अपूर्ण छोड़ आयी हो!' सुभद्र ने ही कहा - 'उसे सम्पूर्ण कर लो! मैं तो अब आ ही गया हूँ; अतः कोई शीघ्रता नहीं है। आहार-ग्रहण करके भी आतप शीतल होने पर जाऊँगा।'

'कुछ विशेष तो अपूर्ण नहीं है।' उसने तत्परतापूर्वक प्रतिवाद किया और पाद्य अर्पित करने लगी।

'यह अपनी आराधना से उठकर आयी है।' उसकी माता ने कहा - 'सम्भवतः आर्तिक्य शेष होगा।'

'किसकी आराधना?' सुभद्र ने सहज पूछ लिया।

'श्रीरघुनाथजी की।' माताने ही उत्तर दिया।

'नीराजन में मैं सम्मिलित होने का अधिकारी हूँ?' सुभद्र ने जिज्ञासा की।

'हाँ, आइये!' वह कुमारी प्रसन्न हो गयी। गृह-स्वामिनी भी संतुष्ट हुई। गृहपति सबको लेकर आराधन-कक्ष में गये। एक पृथक् कक्ष - उसे मन्दिर कहना अधिक उपयुक्त होगा। सिंहासन पर सुसज्ज श्रीसीताराम का अर्चा-विग्रह। सम्पूर्ण सम्भार ऐसा, जैसे सात्विकता साकार हो गयी है।

श्रुति का एक महावाक्य उस कक्ष के द्वार पर ही अंकित सुभद्र ने देख लिया था। गृहपति की निष्ठा, स्थिति, अभिरुचि का परिचय पाने के लिए वही पर्याप्त था।

नीराजन सुभद्र करे, यह आग्रह किया गृहपति ने; क्योंकि उसने कक्ष में आकर जिस श्रद्धा, सावधानी से भूमि में मस्तक रखकर प्रणाम किया था, उससे सब प्राय: अभिभूत थे; किन्तु सुभद्र ने इसे स्वीकार नहीं किया। गृहपति ने नीराजन किया। सबने स्तवन किया और पुष्पाञ्जलि अर्पित की।

'अतिथि आराध्य की ही प्रतिमूर्ति है।' सुभद्र ने आग्रह किया कि गृहपति उसके साथ प्रसाद-ग्रहण करें; किन्तु यह आग्रह स्पष्ट अस्वीकृत हो गया - 'आपके नैवेद्य-ग्रहण के अनन्तर सब प्रसाद प्राप्त करेंगे।'

विश्रामकाल में सब समीप आ बैठे थे। शीघ्र स्पष्ट हो गया कि परिवार ही परमार्थ-काम है। अर्थ, काम ही नहीं, स्वर्ग की स्पृहा भी किसी का स्पर्श नहीं करती। सब अध्ययनशील और भगवच्चर्चा सुनने के समुत्सुक। सुभद्र ने अनुमान कर लिया कि गृहपति आत्मतत्त्व के मनन-निदिध्यासन में रुचि रखते हैं। गृह-स्वामिनी पति तथा कन्या - दोनों के प्रति समान हैं। अतः वे

उपनिषद् का भी श्रवण कर लेती हैं और उसी तत्परता से रामकथा का भी। वैसे उनके आराध्य तो उनके प्रयत्क्ष पतिदेव हैं। पतिव्रता के लिए इतना परम पर्याप्त नहीं है, यह कहने का तो किसी में साहस नहीं।

'आराधना का प्राण हैं आराध्य के प्रति आत्मीयता।' सुभद्र ने स्निग्धा से सीधे कहा-'सार्वजनिक सर्वेश्वर किसी के तभी समुद्धारक होते हैं, जब वे उसके अपने कुछ हो जाते हैं। श्रीरघुनाथ से तुम्हारा अपना कुछ सम्बन्ध है?'

'आपका क्या सम्बन्ध है?' उस कन्या ने तो पहले कुछ लज्जापूर्वक मुख झुका लिया। लगा कि उसने अभी इस विषय पर कभी कुछ सोचा ही नहीं है; किन्तु दो क्षण में मुख उठाकर उसने प्रश्न कर लिया।

'मैं इनके कुल में उत्पन्न होने की कामना करता हूँ।' सुभद्र ने बहुत गम्भीर होकर कहा - 'वैसे काल्पनिक सम्बन्ध में मेरी आस्था नहीं है।'

'काल्पनिक सम्बन्ध?' गृहपति ने जिज्ञासा की।

'मुझसे भूल हुई। भावनात्मक कहना चाहिये।' सुभद्र सावधान हो गया। यहाँ बोलते समय उसे बहुत सावधान रहना चाहिये। गृहपति शास्त्रज्ञ ही नहीं हैं, श्रद्धालु-निष्ठावान् साधक हैं। उसने स्पष्ट किया - 'अपनी ओर से जो सम्बन्ध भावित किया जायगा, वह प्रीति को प्रगाढ़ कर सकता है। बिना अपनत्व के प्रेम नहीं होता, अतः अपनत्व आवश्यक है। लेकिन जब तक दूसरी ओर से उसे स्वीकृति न मिल जाय, वह पुष्ट हो गया, कैसे यह मान लिया जाय?'

'कन्या किसी का वरण कर ले अपने मन से तो यदि वह सत्पुरुष होगा तो उसे अस्वीकार नहीं करेगा।' गृहपति ने बहुत विनम्रतापूर्वक प्रतिवाद जो किया - 'परमात्मा परम दयालु हैं। जो जिस भाव को लेकर उनके समीप जाता है, उसके उस भाव को स्वीकार कर ही लेते हैं।'

'आप अन्यथा नहीं कह रहे हैं।' सुभद्र ने स्वीकार किया - 'कन्हाई का यही स्वभाव है। उसके सम्मुख जैसे सिर या हाथ हिलाओ, वह उसी की अनुकृति करता है। श्रीरघुनाथ तो शीलसिंधु संकोचीनाथ सुप्रसिद्ध ही हैं।'

'सम्बन्ध तो दीक्षा के समय गुरु सूचित करते हैं।' गृह-स्वामिनी ने सरलभाव से कहा - 'सम्बन्ध गुरुकृपा से प्राप्त होता है।'

'इसलिए गुरु को सर्वज्ञ होना चाहिये। जीव का जो वास्तविक सम्बन्ध दिव्य धाम में है, उसी की भावना वह जगा देता है।' तब सबको एक ओर से एक ही मन्त्र-सम्बन्ध देकर सम्प्रदाय की संख्यावृद्धि का प्रचलन ही नहीं था। अतः सुभद्र को ऐसा कोई प्रतिवाद करना सूझ भी नहीं सकता था। सुभद्र ने अपनी बात कही - 'जहाँ तक मेरी बात है, मैं अपने लिये मानता हूँ कि मैं कुछ बनता-बनाता नहीं। कन्हाई को - श्रीरघुनाथ को जो भी बनाना हो, उन्हीं को सूचित करना चाहिये।'

'यह स्वत्व, शक्ति, सौभाग्य सुदुर्लभ है।' गृहपति विभोर भरे कण्ठ कह गये - 'इतना प्रगाढ़ विश्वास प्राणी को प्राप्त कहाँ होता है?'

'आप आज ही चले जायँगे?' तनिक एकान्त मिलते ही स्निग्धा ने बहुत स्नेहभरे स्वर में पूछा।

'शुभ्रा! मैं आते ही तुम्हें पहचान गया हूँ।' सुभद्र ने स्पष्ट कहा - 'इस उटज के आकर्षण का जैसे ही अनुभव हुआ, मैंने समझ लिया था कि यहाँ अपना कोई होगा; किन्तु अभी द्वापर है।'

'मैं आपसे कहाँ कोई आग्रह कर रही हूँ।' उसने बहुत कातर-कण्ठ से कहा - 'आपको रुकने को नहीं कहती, केवल एक अनुरोध - वाराणसी की ओर मत जाइये।'

'तुम मुझे बाबा विश्वनाथ और अम्बा अन्नपूर्णा के ही दर्शन से वारित कर रही हो?' सुभद्र ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा - 'मैं तो चला ही उस अविमुक्तक्षेत्र की यात्रा करने हूँ।'

'बाबा और अम्बा में मेरी श्रद्धा है। उन आशुतोष के पुण्यधाम का दर्शन भी परम सौभाग्य; किन्तु' स्निग्धा के स्वर कातर हो उठा - 'पता नहीं, क्यों मेरा मन किसी अमंगल की आशंका करता है।'

'यह तुम्हारा शरीर के प्रति मोह है।' सुभद्र ने तनिक झिड़की के स्वर में कहा - 'कोई ऐसा स्थान है, जहाँ कन्हाई नहीं है? कन्हाई चाहे भी तो किसी का अमंगल कर सकता है? वाराणसी तो औढरदानी की पुरी है। अम्बा का अपना शिशु उनके श्रीचरणों

के समीप जाने में आशंका करेगा? वहाँ कोई इसका अमंगल करने का साहस कर भी ले, सफल होगा या स्वयं दण्ड का पात्र बन जायगा?'

'आपको समझा देने की शक्ति तो मुझमें नहीं है।' स्निग्धा के नेत्रों से दो बिन्दु टपक पड़े। स्पष्ट था कि उसे संतोष नहीं हुआ।

'सुनो, एक काम कर दो मेरा।' सुभद्र ने उसका चित्त दूसरी ओर करने के लिए, उसे शान्त बनाने के लिए बहुत आत्मीयता भरे स्वर में अनुरोध किया - 'मैं प्रयत्न करूँ तो जान ले सकता हूँ; किन्तु मेरे लिये यह सिद्धि-प्रयोग कहा जायगा और प्रतिबन्ध बन सकता है। तुम मेरे कहने से ऐसा करो तो तुम्हारे लिये यह बाधक नहीं बनेगा।'

'बने भी तो मैं उसकी चिन्ता नहीं करती।' वह बोली - 'आप अपनी कोई सेवा बतावें तो मैं उसे अपना प्रथम कर्तव्य मानती हूँ। क्या करना है मुझे?'

'एक मुनि को भगवती योगमाया ने पाषाण बनने का विधान करके गिरा दिया।' सुभद्र ने बिना किसी भूमिका के कहा - 'वह

कहीं इस भारतभूमि में ही पड़ा होना चाहिये। उसके अध:पात का मैं निमित्त बना। अतः उसका पता मुझे होना चाहिये।'

'इसलिये कि आप उसका समुद्धार कर सकें।' किंचित् स्मित आया अधरों पर और वह उसी समय ध्यानस्थ हो गयी। दो क्षण में ही दृग खोले उसने - 'छिन्नमस्ता-पीठ के समीप वह अर्चामूर्ति बना स्थित है; किन्तु अत्यन्त दुर्बल मूर्ति है वह। स्थान भी घोर अरण्य में दुर्गम है। आप वहाँ जायँगे?'

'इस प्रकार वहाँ जाकर क्या करूँगा?' सुभद्र भी उस समय कुछ सोच नहीं सका कि वह कैसे उस मूर्तीभूत का उद्धार कर सकता है। किसी अर्चामूर्ति को भंग तो किया नहीं जा सकता। अपने-आप से ही कह रहा हो, इस प्रकार बोला-'कहाँ समाधिनिष्ठ परम सात्विक मुनि और कहाँ छिन्नमस्ता का तामस पीठ। रुधिराचन ही तो वहाँ उसे प्राप्त होता होगा। अहंकार योग का हो या सात्त्विकता का, कितनी विषम प्रतिक्रिया: प्रकट करता है।'

गृहपति आ गये थे। सुभद्र को इस सम्बन्ध में अधिक सोचने का अवकाश नहीं था। यह थोड़ा सोचना भी उसे इसलिये आवश्यक लगता था; क्योंकि कन्हाई ने उसी समय उस मुनि की चर्चा सुनना भी अस्वीकार कर दिया था। अतः यह ऐसा विषय

आ पड़ा था, जिसे कन्हाई पर छोड़ कर संतोष कर लेना सुभद्र को उचित नहीं लगता था।

प्रतिमा-प्रत्यभिज्ञा-

अनुकूल नहीं पड़ी वाराणसी सुभद्र को। सच तो यह है कि द्वापर का समूचा वातावरण उसको अनुकूल नहीं पड़ रहा था। वाराणसी में अब सुरधुनि का स्नान सुलभ था। बाबा विश्वनाथ का सांनिध्य था। अन्नपूर्णा अपनी इस पुरी में किसी विमुख को भी उपोषित नहीं रहने देतीं, सुभद्र तो अपने को उनका स्तनंध्य समझता है; किन्तु यह संशयशील समाज, इतने निष्ठाहीन लोग?

प्रतिमा-पूजन को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी वाराणसी में। सुभद्र को यह समझाना नहीं था कि चेतन-तत्त्व का सत्कार बिना माध्यम बनाये सम्भव नहीं। प्रतिमा सम्यक् माध्यम है; क्योंकि कोई जीव-चेतन उसमें अर्पित अर्चा को अपनी मानकर अहंकार करने वाला नहीं है। शरीरों की अर्चा में यही एक बड़ी बाधा है।

सुभद्र स्वयं प्रतिदिन जाह्नवी-स्नान करके विश्वनाथ-अन्नपूर्णा के अर्चन का व्रती बन गया था वाराणसी आने के दिन से ही। वस्तुतः यह सुयोग न होता तो वह यहाँ दो दिन भी नहीं रुकता; किंतु उसकी समझ में ही नहीं आता कि मनुष्य इतना निष्ठाहीन, बहिर्मुख क्यों है?

भगवान् भोलेनाथ का समाज कैसा है, सर्वविदित है; किंतु सुभद्र को भूत-प्रेत कभी भयानक नहीं लगे। वह उनमें शिष्टता, संयम की आशा नहीं करता। वे सब अपने स्वभाव-परतन्त्र हैं; किंतु सुभद्र को तो उनसे सदा स्नेह मिला है। वह उनमें से किसी को चिढ़ा भी दे तो वे केवल ताली बजाकर हँसेंगे। अन्ततः अम्बिका के पुत्र का वे अतिक्रम तो कर नहीं सकते।

'शिव-मन्दिर में सबको सब ऊधम करने का स्वत्व है।' आप सुभद्र की इस बात से असहमत हो सकते हैं; किंतु उसका तर्क है -'बाबा को भूत-प्रेत पालना प्रिय है।'

कोई चिल्ला रहा या झगड़ रहा है, अथवा पैर फैलाये पड़ा है, यह सुभद्र को अखरता नहीं। वह हँस देता है -'बाबा के समीप उनके गण स्वतन्त्र नहीं रहेंगे तो बेचारे स्वच्छन्द रहेंगे कहाँ?'

भारत के जितने तीर्थ हैं, सब वाराणसी में और सब देवता विश्वनाथपुरी में - सुभद्र पहले दिन बहुत प्रसन्न हुआ था; कितु यह क्या है? एक व्यक्ति अनेक देव-मन्दिरों में जाता है, यहाँ तक तो विशेष बात नहीं; किंतु लोगों की अपनी अर्चा में भी देवमूर्तियों की भीड़ है। कहीं निष्ठा नहीं। सुभद्र जानता है कि भूत-

प्रेत आचरण में चाहे जैसे हों, उनकी निष्ठा अचल होती है और ये मनुष्य?

वाराणसी के नगरपाल है - भैरवजी; अतः उनकी अर्चा समझ में आने योग्य है; परन्तु ये प्रेतों के स्थान, ब्रह्मपिशाचों की पिण्डियाँ? वाराणसी में मनुष्य अभी से विश्वनाथ से विमुख होकर प्रेत-पूजक हो गया?

आप सुभद्र का असंतोष समझ नहीं सकेंगे। जब तक कोई सुदृढ़ निष्ठा, सहज-सात्त्विकता और शरीर से ही निष्काम न हो जाय, उसे निष्ठाहीनता, राजस-तामस वातावरण और वासना की दुर्गन्धि व्याकुल नहीं करती।

सतयुग का साधन तप था, त्रेता का यज्ञ और द्वापर में आकर प्रतिमा-पूजन साधन हो गया। तप भी राजस-तामस और सकाम होता हैं, यह सतयुग के मानव ने जाना ही नहीं। श्रुति ने श्येनयाग-जैसे अभिचार (मारणा) प्रयोग भी प्रतिपादित किये हैं, यह अपनी वासना या द्वेष-पूर्ति को होगा, मनुष्य के मन में ही नहीं आया। त्रेता के सामान्य जनों ने भी ऐसे प्रयोगों को असुर-उत्पात-शमन का साधन ही माना था।

अब द्वापर में आकर तो मनुष्य जैसे कामना-क्रीत हो गया। वह अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रतिमा-प्रतिष्ठा और पूजन करने लगा। आस्थाहीन-संदिग्ध होने से आज इस देवता की और कल उसकी अर्चा में लग गया। सुभद्र को यह मनुष्य का भटकाव बहुत अप्रिय है। वह कहता है - 'साधन भी क्या कोई सांसारिक उपलब्धि के लिए होता है। साधन तो श्याम का सामीप्य पाने के लिए।'

सुभद्र को कोई कैसे समझा सकेगा कि द्वापर बहुत श्रेष्ठ युग है। मनुष्य भले अर्थ-कामपरायण हो गया; किंतु उत्कट कामनापूर्ति के लिए भी उपासना का आश्रय लेता है। शास्त्र और सुरों में मनु की संतान की आस्था है। कलि में इस आस्था से भी हीन; पाप-परायण मनुष्य द्विपाद पशु भी न रहकर पिशाच बन जायगा, यह उस समय कोई सोच भी नहीं सकता था।

सुभद्र को संयोगवश प्रतिमा-प्रतिष्ठा के मर्मज्ञों का संग प्राप्त हो गया। सहज कुतूहली होने के कारण वह इस शास्त्र के अध्ययन में रुचि लेने लगा। प्रतिभाशाली विनम्र को विद्या देने में शिक्षक स्वयं उत्साही होते हैं। वाराणसी में तो विद्वानों के लिए अब भी अत्यन्त हेय माना जाता है विद्यार्जन के लिए आये व्यक्ति को

अस्वीकार करना। कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति विद्या-पिशाच कहलाने की कामना तो नहीं करेगा।

सुभद्र की केवल इस रुचि ने उसे वाराणसी में रहने पर विवश किया। वह मूर्तिशास्त्र के अध्ययन में लग गया - बहुत समय तक लगा रहा। वैसे उसने केवल शास्त्रीय ज्ञान तक ही अपने को सीमित रखा। उसकी अभिरुचि ही ललित कलाओं में नहीं है। वह चित्रांकन, संगीत, नृत्य, वाद्य को स्त्रियोचित-कला कह देता है, इसी प्रकार तक्षण (मूर्ति निर्माण) को तो नहीं कह सका; किंतु स्वयं उसने काष्ठ या मृतिका की भी मूर्ति बनाने का मन नहीं किया। अवश्य उसे व्यावहारिक विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए निर्माताओं की कर्मशाला में निरीक्षण की सुविधा प्राप्त करनी पड़ी।

अब तो इस शास्त्र की ही समाप्ति हो गयी। अन्यथा प्रतिमा के उपयुक्त शिला का चयन होने पर पाषाण-परीक्षा प्रारम्भ हो जाती थी। शिला के भीतर रेणुका, विष, जल, छिद्र या अस्थि-प्रश्नभृति न हो, इसका पता शिला को तोड़े बिना लगना चाहिये। निश्छिद्र, शुद्ध शिला ही प्रतिमा-निर्माण के उपयुक्त है। यह पता विविध औषधीय लेपों के बिना नहीं लग सकता था और लेपों में

वर्ण-परिवर्तन, मण्डलादि आकृति बनाने से जो ज्ञान होता था, वह प्रत्यक्ष अनुभव की अपेक्षा करता था।

सुभद्र सांग श्रुति का अध्येता था। अत: उसे आश्चर्य नहीं हुआ कि प्रतिमा-निर्माण भी सकाम सम्भव है और मारणादि अभिचारों के लिए भी होता है। प्रतिमा के स्थापन-स्थान, आकार-भेद से ये उद्देश्य सिद्ध होते हैं।

'शास्त्र निष्ठा का समर्थक है।' सुभद्र इस अध्ययन से भी अपने इसी निर्णय पर पहुँचा; क्योंकि प्रत्येक देवता के सात्विक, राजस, तामस स्वरूप हैं। भगवान् विष्णु की मूर्ति भी मारण-जैसे घोर-कर्म के लिए स्थापित-पूजित हो सकती है। केवल किंचित् अन्तर आकार में आता है। प्रतिष्ठा, पूजन-पद्धति, अर्चा-सामग्री में तो अन्तर आना ही है।

जब अपना आराध्य सर्वसमर्थ है, सब प्रयोजनों की पूर्ति में सक्षम है, शास्त्र में उसकी कामनानुरूप प्रतिमा-प्रतिष्ठा का विधान है, मनुष्य अन्याश्रय क्यों ढूंढता है? सुभद्र ने एक वृद्ध विद्वान से एक दिन पूछा।

'संशय-वृत्ति के कारण। अविश्वासी होने के कारण।' विद्वान ने सूत्र सुना दिया - 'अपनी कामनापूर्ति का अत्यन्त आग्रही होने के कारण।'

'इन सबों को कन्हाई प्रिय नहीं है, प्रेत प्रिय हैं!' अनेक बार सुभद्र झल्ला उठता है - 'इन्हें सहज शान्ति की सुधा अपेक्षित नहीं है; गरल पिलानेवाला चाहिये।'

'कितना क्रूर विधान है इस कर्म का भी।' सुभद्र ठीक नहीं कहता, यह आप कह सकेंगे? वह कहता है - 'इसे उपासना नाम दे दिया गया है; किंतु इसमें इष्ट के समीप आसन पाना है कहाँ? विधि पूर्ण होनी चाहिये। विधि जानने का भी दायित्व कर्ता पर। विधि में किंचित् त्रुटि हुई तो दण्ड और सब ठीक हो जाय तो लाभ? देवता आराधक को अपना दास बना लेगा। उसकी कामना को आँख बंद करके 'एवमस्तु' कह देगा। यह देखेगा ही नहीं कि आराधक तो अल्पज्ञ है, अपनी हानि-लाभ समझता नहीं।'

'अज्ञता के कारण ही तो क्षुद्र देवशक्तियों का आश्रयण करता है मनुष्य।' एक बहुत वृद्ध विद्वान ने समझाया - 'अन्यथा नारायण का सखा नर दूसरे की शरण क्यों ले? इसे तो अपनी बुद्धि का गर्व

है। देवशक्ति को केवल सेवक बनाना चाहता है। अपनी अर्चा के बल पर देवता को वश में करना है इसे। तब देवता यदि दास बना ले, अनौचित्य कहाँ है। वह अर्चक की प्रवृत्ति ही नहीं, बहुत-कुछ आकृति तक अपने शील-स्वरूप के समान परिवर्तित कर लेता है।'

'कन्हाई बहुत कुतूहली है।' सुभद्र सदा झल्लाता नहीं। अनेक बार खुलकर हँसता है - 'इतने मुखौटे बना लिये अपने और इन अटपटे देव-देवी-मुखौटों के पीछे कोई नटखट छिपा हँसता है, यह कोई नहीं देखता। प्रतिष्ठा, पूजन का इतना श्रम करो और वह कुछ तुच्छ, व्यर्थ वस्तु पकड़ाकर अँगूठा दिखा देता है।'

सुभद्र क्यों पड़ा इस पचड़े में? आप आज यह पूछ सकते हो; क्योंकि आज विद्या भी सप्रयोजन चाहिये। लेकिन अभी थोड़े वर्षों पूर्व तक विद्या का प्रयोजन केवल ज्ञानार्जन था। ऐसा न होता तो देश में संस्कृत-व्याकरण का इतना व्यापक अध्ययन-अध्यापन हो पाता? पूरे का-पूरा जीवन व्याकरण के ही अध्ययन में लगाने वाले विद्वानों की चर्चा भी सुनी जाती? व्याकरण क्या भाषा-ज्ञान का माध्यममात्र नहीं है? इस शास्त्र का भी कोई बहुत बड़ा प्रयोजन आपको पता है?

विद्या केवल ज्ञान के लिए। सुभद्र ने बहुत पहले महर्षि अत्रि से जो अध्ययन किया था, वह भी ऐसा ही निष्प्रयोजन था, जैसा इस समय का अध्ययन। लेकिन कोई काम अधूरा करना उसे स्वीकार नहीं। इसमें अपवाद आये साधन; किंतु वह आगे की बात है। शरीर-परिवर्तन के साथ कुछ स्वभाव-परिवर्तन भी तो होता है। इस समय तो सुभद्र जुटा था मूर्ति-शास्त्र का अध्ययन करने में।

बहुत समय लगा। बहुत विस्तृत शास्त्र है। एक-एक देवता के शतशः स्वरूप-भेद। केवल शंख, चक्र, गदा, पद्म का करों में क्रम-परिवर्तन करने से भगवान विष्णु के नारायण, वासुदेव, गोविन्दादि भेद हो जाते हैं। शालग्राम-शिला में तो लक्षण-भेद से सब देवता आ जाते हैं। देव-मन्दिर में कच्छप-स्थापन से लेकर मुख्य देवता के अनुरूप निश्चित स्थानों पर परिकर-पार्षदादि का न्यास।

मूर्तियाँ भी केवल शिला की ही तो नहीं होतीं। काष्ठ, धातु, मृत्तिकामयी, मणिमयी। लेप्या और लेख्या (चित्रमयी) भी। यन्त्र तो मन्त्रमयी मूर्ति है। इनके न्यास, पूजन - बहुत विस्तार है सबका।

सामान्य मनुष्य के लिए एक जीवन में सब देवताओं-सम्बन्धी इस शास्त्र का अध्ययन सम्भव नहीं है। सुभद्र श्रुतिधर है। एक बार सुनना पर्याप्त और दूसरा कोई काम नहीं उसके समीप। दीर्घकाल तक इस अध्ययन में उसने अपने को निमग्न रखा। इस ओर तल्लीन हो गया तो जन-सम्पर्क छूटा। लोगों की संशयशीलता से होने वाला उद्वेग गया।

इतना अध्ययन और निष्प्रयोजन। उसने आगे भी किसी मूर्ति-प्रतिष्ठा में कोई सहयोग नहीं दिया।

दौर्बल्य का दण्ड-

अभी अपने आह्निक कर्म से सुभद्र निवृत्त ही हुआ था कि अचानक एक व्यक्ति ने आकर उसके चरण पकड़ लिये - 'आप मुझ पर कृपा करें - आप संत हैं, समर्थ हैं।'

'आपको किसने कह दिया कि मैं संत हूँ।' सुभद्र चौंका। ऐसी स्तुति सुनने का तो उसे अभ्यास नहीं है। उसने आगत को आदरपूर्वक उठाया - 'मैं भी आपके समान सामान्य मानव हूँ; किन्तु आपकी समस्या क्या है?'

'मेरी कन्या बोलती ही नहीं है।' उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की - 'जन्म से एक शब्द भी वह नहीं बोली है। आप अनुग्रह करें तो....।'

'वह सुन सकती है?' सुभद्र चिकित्सा-शास्त्र का ज्ञाता है। जानता है कि गूंगा व्यक्ति कहीं सहस्त्र में कोई होता है। दोष कर्णेन्द्रिय में होता है। वह सुन नहीं पाता। इसी से गूंगा प्राय: बधिर भी होता है।

'वह सुनती है, समझती है, कहा हुआ करती है।' उस व्यक्ति ने कहा - 'केवल बोलती नहीं और किसी पुरुष को न स्पर्श करती - न करने देती। शिशु थी तब भी मैं उसे अंक में उठाता था तो रोने लगती थी। पैरों चलने लगी, तब से अपने भाई से भी दूर-दूर भागी रहती है।'

'कोई कुण्ठा लगती है उसके मन में।' सुभद्र गम्भीर हो गया - 'मूका तो जान नहीं पड़ती। अच्छा, चलिये, देखते हैं कि मैं कुछ कर सकता हूँ या नहीं।'

सुभद्र उस साथ गृहपति के साथ उसके घर गया। उस बालिका ने भी माता के साथ भूमि में मस्तक रखकर उसे प्रणाम किया। सुभद्र सोचता रह गया - ' यह कुछ परिचिता-सी प्रतीत होती है?'

'सुनो!' सुभद्र ने उसे समीप बुलाया और सहज ही उसके कपोल थपथपा दिये।

'तुमने मेरा स्पर्श किया?' वह बालिका उग्र हो उठी - 'तुम्हारा देहपात हो जायगा!'

'सौष्ठवा! तुम्हारा शाप स्वीकार करता हूँ।' सुभद्र अत्यन्त गम्भीर हो गया। यह सत्य है कि वह स्वीकार न करे तो किसी का शाप उसका कुछ बिगाड़ने में समर्थ नहीं। वह सीधे बाबा विश्वनाथ या अम्बा अन्नपूर्णा के समीप जाकर भी कह दे सकता था - 'यह शाप आपके होते मुझे क्यों अंगीकार करना पड़े?'

सुभद्र स्वयं भी उस कन्या को शाप दे सकता था। इनमें से कुछ नहीं किया उसने। दो क्षण तक सीधे देखता रहा उसकी ओर। उसके माता-पिता स्तब्ध खड़े थे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि वे क्या करें। अपने गृह बुलाकर एक सम्मानित व्यक्ति को, जिसे वे संत मानते हैं, इस प्रकार शाप दिलाया जाय? पश्चात्ताप के परिताप ने उन्हें बोलने में भी असमर्थ कर दिया था।

'यह पातिव्रत्य का बद्धमूल अहंकार है और कन्हाई को किसी का अहंकार अच्छा नहीं लगता। वह गर्वहारी इसे कुचल डाले तो आश्चर्य नहीं होगा मुझे।' सुभद्र ने मन्द स्वर में कहा।

'तुमने पहले शाप देकर श्रीकीर्तिकुमारी को असंतुष्ट कर दिया था।' अब उसने अब भी रोष से भरकर लाल बनी उस लड़की से कहा - 'यह शाप देकर तुमने कन्हाई को क्रुद्ध कर दिया। अब वह

तुम्हें दूर की सेवा में भी स्वीकार करे, इसमें बहुत कठिनायी होनी है।'

'हाय! मुझ भाग्यहीना ने यह क्या कर दिया!' इस प्रकार भूमि पर गिरकर वह दोनों हाथ मस्तक पर पटकने लगी, जैसे भीतर से एक साथ टूट गयी है और अब उसका कण-कण बिखर जाने वाला है; किन्तु दो क्षण में अपने को स्थिर करके फिर बोली - 'यदि मेरा कुछ भी पुण्य शेष है तो तुम स्वेच्छा-शरीर-धारण में समर्थ बनो।'

उस कन्या के माता-पिता अधिक विस्मित हुए। उनकी लड़की ने वाणी पायी, पहले बोली तो मधुर स्वर निकला उसके कण्ठ से और अब इतने ही क्षणों में वह हकलाने लगी है। उसका स्वर अत्यन्त कर्कश हो गया है।

'यह भी अहंकार ही है।' इस बार सुभद्र ने झिड़की दी। 'तुम इतनी अज्ञ हो, मैं अनुमान नहीं कर सकता था। अपना सब पुण्य तुमने शाप और वरदान में समाप्त कर लिया।'

'वरदान में भी बुराई है?' अब वह भूमि पर हताश बैठ गयी थी। उसके अश्रु भी सूख गये थे। उनका मुख रक्तहीन जान पड़ता था।

'अपने से अधिक श्रेष्ठ पर अनुग्रह दिखलाना अशिष्टता नहीं है?' सुभद्र का स्वर कड़ा बना रहा। तुम क्या समझती हो कि कन्हाई कृपण हो गया है या अब मुझसे रूठ गया है? वह रूठ भी जाय तो भी मुझे अन्य का अनुग्रह कभी अपेक्षित नहीं होगा।'

'आप इसे क्षमा कर दें!' अब पिता ने चरण पकड़ने का साहस किया।

'शरीर-त्याग का तो स्वयं मेरा संकल्प था।' सुभद्र ने पिता की ओर ध्यान नहीं दिया। वह उस लड़की की ही ओर देखता रहा - 'दूसरा शरीर मेरी इच्छानुसार नहीं मिलेगा तो होगा क्या? कर्म-नियन्ता के पास मेरा कोई पूर्व संचित है कि वे उसमें से प्रारब्ध बना देंगे?'

'मैं अधमा हूँ।' वह लड़की अत्यन्त आहत स्वर में बोली - 'क्षमा माँगने योग्य भी नहीं रही।'

'आप उठिये।' सुभद्र ने उसके पिता को उठाया - 'आपके किसी अत्यन्त विशिष्ट पुण्य से यह पुत्री बनी आपकी किन्तु इसका पुण्य ही इसके लिए हानिकर हो गया। इसकी अज्ञता ने इसे समझने ही नहीं दिया कि धर्म साध्य नहीं है। सब धर्मों का परमप्राप्य श्यामसुन्दर है। अपने सब धर्मों की आहुति देकर उसका सांनिध्य सुलभ हो तो धर्मराज इसे अपनाने में नहीं हिचकंगे। कन्हाई धर्मक्रीत नहीं हुआ करता।'

'तुम क्या सोचती हो कि तुमने शाप देकर कुछ परिवर्तन कर दिया है सृष्टि में या वरदान देकर कोई बड़ा सुख सुलभ किया है मेरे लिये?' सुभद्र के स्वर में रोष तो नहीं रह गया था; किन्तु गम्भीरता पूरी थी - 'सृष्टि का संचालक सर्वज्ञ रहेगा यदि सब पूर्व से ही निर्धारित न हो? उसके विधान को अन्यथा करनेवाली शक्ति कहीं है?'

'शाप की व्यर्थता समझ गयी प्रभो!' बहुत दीन, दयनीय स्वर हो गया उस बालिका का। दोनों हाथ जोड़ लिये उसने - 'तप या पुण्य के अहंकार और क्रोध के संयोग के बिना शाप देना बनेगा नहीं। दोनों पतन के हेतु हैं। दोनों से तप का विनाश होता है।'

'मैं तो अज्ञ हूँ, अल्पशक्ति हूँ, मेरे वरदान में भी मेरा अहंकार ही था - मानती हूँ। मैंने अशिष्टता की, धृष्टता की।' सुभद्र नहीं बोला तो दो क्षण चुप रहकर वह स्वयं बोली - 'किन्तु वरदान सदा तो धृष्टता नहीं होता। वह तो कृपा की प्रेरणा है, उसमें पाप?'

'वरदान पाप नहीं है?' सुभद्र ने शान्त-स्वर से कहा - 'पर उसमें अपनी श्रेष्ठता, सामर्थ्य का अभिमान तो है ही। कन्हाई सर्वरूप है, यह विस्मृत हुए बिना उस मयूरमुकुटी को वरदान दिया जा सके, तब उस वरदान की सार्थकता।'

'उन्हें वरदान देने का साहस कौन करेगा?' उस कन्या ने आश्चर्य-स्फारित नेत्रों से सुभद्र की ओर देखा। 'वे स्वरूप तो हैं; किन्तु.........।'

यह उस लड़की की ही समस्या नहीं है। यह तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों की भी समस्या है। वे सर्वेश ही विश्वरूप हैं - यह परमसत्य बुद्धि में कहाँ स्थिर रहता है! यही स्थिर रहे तो किसी साधन की अपेक्षा क्यों रहे। यही तो साध्य स्थिति है।

'तुम्हारे वरदान की परिणति क्या होने वाली है, पता है तुम्हें?' सुभद्र ने पूछा - 'तुम क्या समझती हो कि यह शरीर त्यागकर मैं

देवता, दैत्य, सिद्ध, गन्धर्व, ऋषि-मुनि या कोई सम्राट-सुत होने की कामना करूंगा?'

'आप क्या बनना चाहेंगे?' अब वह लड़की आश्चर्य में पड़ गयी। अपनी इच्छानुसार शरीर-धारण सुलभ होने पर यदि ये अपने बतलाये वर्ग में कुछ नहीं बनना चाहते तो?

'मैं वृश्चिक बनूंगा।' सुभद्र ने इतने समय में बहुत कुछ सोच लिया है। उसे अब तक जो समस्या उलझाये थी, वह सुलझ गयी है। उस पाषाण-बने मुनि के समुद्धार का मार्ग मिल गया है उसे! अपने लिये तो उसे कुछ सोचना नहीं है। वह कहाँ जाता है, क्या करता है, कौन-सा शरीर ग्रहण करता है, इस पर कुछ सोचना आवश्यक हो तो कन्हाई सोच लेगा। सुभद्र को तो कहीं हिचक नहीं है।

'वृश्चिक?' वह कन्या, उसके माता-पिता भी एक साथ चीख पड़े।

'तुममें-से किसी के लिए कोई भय नहीं है।' सुभद्र हँस पड़ा - 'आश्वस्त रह सकते हो कि मैं तुममें-से किसी को भी उत्पीड़ित नहीं करुंगा।'

'वह आप करते तो कुछ प्रायश्चित्त हो जाता।' बालिका विह्वल हो उठी थी - 'लेकिन यह हीनदेह-धारण का संकल्प....।'

'तुम्हारे जानने-सोचने की बात यह नहीं है।' सुभद्र ने कुछ सूचित करना अस्वीकार कर दिया।

'वाराणसी में देह-त्याग कर आप ऐसा शरीर प्राप्त कर सकेंगे?' इस बार उस कन्या की माता ने बोलने का साहस किया - 'मैंने मुनियों से इस अविमुक्त-क्षेत्र का जो माहात्म्य सुना है......।'

'सत्य वही है। उसकी मर्यादा सुरक्षित रहेगी।' सुभद्र ने कह दिया - 'अब मैं अनुमति लेता हूँ। मुझे अभी इस पुरी का परित्याग कर देना है। आपकी पुत्री के शाप को सूर्यास्त से पूर्व सार्थक होना चाहिये।'

'आह!' सुभद्र मुड़ पड़ा; किन्तु वह कन्या भूमि पर ही बैठी रही - मैंने वरदान देने का दुस्साहस न किया होता। मेरे लिए कोई मार्ग नहीं?'

'तुमने जिनको शाप दिया है, उनकी सेवा और करुणा ही तुम्हारा उद्धार करेगी।' जाते-जाते सुभद्र कह गया।

परित्राण का प्रयास-

अरण्य के अन्तराल में है छिन्नमस्ता-पीठ। अब भी वहाँ आस-पास घोर वन है। राँची से लगभग नब्बे किलोमीटर दूर दामोदर नदी के समीप यह छोटा-सा मन्दिर है।

द्वापर में वन अधिक सघन था। मन्दिर अधिक बड़ा और भव्य था। वह सब तो काल के गाल में चला गया। अब तो छिन्नमस्ता की मूर्ति भी बहुत अस्पष्ट रह गयी है। अवश्य ही वहाँ अब भी पशु-बलि से आस-पास का स्थान भी रक्त-दूषित रहा करता है। पहले कभी इस तामस शक्तिपीठ पर कामनान्ध राजा या अन्य सशक्त लोग नर-बलि करते थे। अपने समान मनुष्य को अपनी कामना-पूर्ति के लिए काट फैंकने की पैशाचिकता मनुष्य छोड़ ही पाता तो परमाणु-अस्त्र बनाने में जुटता।

उस समय छिन्नमस्ता के मुख्य मन्दिर के आस-पास उनकी सखी-परिकरों की भी मूर्तियाँ थीं। छोटे मन्दिर थे। उनमें भी एक मूर्ति बहुत प्रतिष्ठा-प्राप्त थी। श्रीराम-मन्दिरों में हनुमानजी या शिव-मन्दिरों में नन्दीश्वर का जो स्थान है, वही स्थान उसे प्राप्त हो गया था।

'यह स्वयंम्भू-मूर्ति है।' वनवासी यह मानते थे और इसीलिये उनकी उसमें बहुत श्रद्धा थी छिन्नमस्ता को बलि-अर्पण करके उसे भी शोणित-स्नान कराया जाता था।

वह मूर्ति दामोदर के प्रवाह में एक मछुए को कभी प्राप्त हुई थी। मछली के लिए डाला जाल उलझ गया जल में और उसे सुलझाने का प्रयत्न किया तो यह मूर्ति मिल गयी।

'मूर्ति' कहने की अपेक्षा उसे 'शिला' कहना अधिक उपयुक्त है। एक पतली कोमल पत्थर की शिला। पानी के प्रवाह ने सम्भवत: उसे घिसा था। दूसरे उस पर एक अस्पष्ट आकार-जैसा कुछ उभाड़ आ गया था। किसी ने नहीं सोचा, जानना चाहा कि वह पुरुषाकार है या स्त्री का आकार। शिला कुछ ऐसी त्रिकोण थी, जैसे कोई पद्मासन से बैठा हो। नीचे पर्याप्त चौड़ी और ऊपर सिर के समान संकीर्ण गोल। उसके मुखादि उभाड़ों में कल्पना ही करना पड़ता था।

'देवी प्रकट हुई। देवी ने दर्शन दिया।' समीप में सुप्रसिद्ध छिन्नमस्ता मन्दिर था; अतः मछुए ने मान लिया कि उसे मिली शिला देवी-मूर्ति है। वैसे भी शक्तिपीठों में अधिकांश स्थलों पर

शिला या पिण्डी ही हैं। अत: विशेष ध्यान देना किसी को आवश्यक नहीं लगा।

उसी दिन वनवासियों की भीड़ दर्शन करने उमड़ पड़ी। स्थानीय राजा को समाचार मिला। राजपुरोहित पधारे। शिला का सम्मार्जन करके उसे सिन्दूर अंकित किया उन्होंने और शीघ्र एक छोटा मन्दिर बनाकर उसमें उसकी प्रतिष्ठा हो गयी। उसकी पूजा होने लगी।

'भद्रकाली' उस मूर्ति की इसी नाम से प्रतिष्ठा हुई। किसी ने नहीं सोचा कि दामोदर के जल में इस जाति के कोमल पाषाण की शिला कहाँ से आयी? यह पाषाण प्रतिमा-निर्माण के उपयुक्त भी है या नहीं?

मूर्ति स्वयं प्रकट हुई जब मान लिया गया तो उसके सम्बन्ध में कुछ सोचना सम्भव नहीं रहा। रक्ताभिषेक के पश्चात् तो यह जानना सम्भव ही नहीं रहा कि मूर्ति में कौन-सा आकार है।

'यह एक ध्यानस्थ मुनि की मूर्ति है।' कोई यदि कहने वाला भी होता तो उसे वहाँ के श्रद्धालु वनवासी विकृत-मस्तिष्क मानते। सम्भव है, उसको भी बलि-पशु बना दिया जाता।

शिला सुकुमार पाषाण की है, पर्याप्त पतली है। उसकी ये अपूर्णताएँ भी उसकी प्रतिष्ठा और पूजा के पश्चात् अलक्ष्य हो गयीं। वह तो सदा नील-लोहित रहने लगी और छिन्नमस्ता के समान उसे भी अरुण-वस्त्र से आवृत रखा जाता था।

मूर्ति की यह प्राप्ति-कथा भी बहुत प्राचीन-परम्परा से वहाँ चली थी। केवल यह कहा जा सकता है कि इस कथा पर वहाँ के लोगों की आस्था थी। अतीत में जिसने उसे पाया था, वह 'परमशाक्त' कहकर स्मरण किया जाता था।

महोत्सव का दिन था। महानिशा में उस वनवासियों के महाराज स्वयं पूजन करनेवाले थे। ऐसे पूजन में तो अनेक महाबलि दी जाती हैं। अतः प्रभात से वहाँ स्थान की स्वच्छता प्रारम्भ हो गयी थी।

बहुत अधिक व्यस्त था वहाँ का मुख्याराधक। आज तो मुख्याराधक को 'पुजारी' कहने की प्रथा है। उसे सम्पूर्ण स्थान स्वच्छ करना था। आस-पास का स्थान और मार्ग भी। बराबर देवी को बलि-अर्पण से स्थान-स्थान पर रक्त का सूखा, कालापन पड़ा था। आज सब धुलकर स्वच्छ होना था।

आज आस-पास के वनवासी श्रद्धालु स्वयं सेवा करने उपस्थित हो गये। पुजारी उन्हें निर्देश दे रहा था, डाँट रहा था और उनके कार्य की देख-रेख कर रहा था। वातावरण दौड़-धूप, स्वच्छता के प्रयास से उड़ती धूलि और कोलाहल से भरा था।

अन्तत: प्रतिमाओं की स्वच्छता तो प्रधान अर्चक को करनी थी। दूसरा तो उनको स्पर्श नहीं कर सकता था। भगवती छिन्नमस्ता को स्नान कराने, मूर्ति को स्वच्छ करने के समय उसने सबको मन्दिर से बाहर करके वस्त्रावरण कर दिया था। भगवती को नूतन वस्त्र धारण कराया उसने। अभी इतना ही पर्याप्त था। विशेष सज्जा और आभूषण-धारण सायंकाल कराना था।

भगवती छिन्नमस्ता के श्रीविग्रह की स्वच्छता करके मुख्याराधक अपने तथाकथित भद्रकाली-मन्दिर में आया। छोटे उपमन्दिरों में आवरण करना आवश्यक नहीं हुआ करता। पुजारी ने मूर्ति पर कलश से जल डाला; क्योंकि उस पर अर्पित वस्त्र अनेक बार रक्तस्नात होने से कड़ा हो गया था। कहीं-कहीं चिपक भी गया था।

'आह!' बड़े उच्चस्वर से पुजारी ने चीख मारी और अपना दक्षिण कर वाम-कर से पकड़ लिया। वह पार्श्व में न होता तो पैर भी आहत हो गये होते।

'क्या हुआ?' अनेक लोग दौड़े आये। पुजारी जब मूर्ति से वस्त्र हटाने लगा था, उसकी मध्यमा में वृश्चिक ने डंक मार दिया था। पुजारी चौंका, वेग से हाथ हटाया उसने। इस झटके से वह मूर्ति नीचे गिरी और खण्ड-खण्ड हो गयी। वृश्चिक अभी मजे से वहीं भित्ति पर चिपका बैठा था।

पुजारी पीड़ा से व्यथीत था। इस समय मूर्ति की चिन्ता करने की मनः-स्थिति उसकी नहीं थी; किन्तु शेष सब मूर्ति के खण्डों को देखकर कई क्षण सन्न खड़े रह गये।

'यह!' एक ने पास से मूर्ति का ही एक खण्ड उठाया और वृश्चिक पर पटक दिया। बहुत बड़ा काला वृश्चिक था; किंतु उसका शरीर तत्काल कुचल गया। थोड़ा से पानी ही तो निकलना था उसके शरीर से। उसकी ओर कौन ध्यान देता। उसका मृत देह उठाया एक ने पत्ते पर और कुछ पद दूर पत्तों के ढेर पर फैंक दिया। पत्तों में जब अग्नि लगेगी, भस्म हो जायेगा वह भी।

वैसे भी सर्प-वृश्चिक को देखते ही लोगों की प्रतिक्रिया होती है - 'मार दो।' इस वृश्चिक पर तो सबका आक्रोश स्वाभाविक था। इसने पुजारी को दंशन किया और इसके कारण स्वयम्भू-मूर्ति भंग हुई।

वनवासी अनेक विषयों में पठित नागरिकों से अधिक निपुण होते हैं। उन्हें अनेक शाबर-मन्त्र ज्ञात होते हैं और जड़ी-बूटियों का पता होता है। पुजारी की पीड़ा तो झाड़कर उसी समय समाप्त कर दी एक वनवासी ने। केवल दंशन-स्थान पर झनझनाहट थी। दबाकर डंक निकाल दिया गया और औषधि लगी तो कुछ क्षणों में पुजारी पुन: कार्यक्षम हो गया।

पुजारी तो स्वस्थ हुआ; किंतु मूर्ति? थोड़ी भी खण्डित मूर्ति पूजा के योग्य नहीं होती। देवता ही नांग-विग्रह स्वीकार नहीं करते। यह तो कन्हाई है, जो विग्रह की पूर्णांगता नहीं देखता। श्रीजगन्नाथपुरी में बिना हाथ-पैर का बना बैठा तो इसका साथ देने के लिए अग्रज और बहन सुभद्रा को भी वैसा ही बनना पड़ा।

शिवलिंग खंडित होने पर अपूजित हो जाता है; किंतु शालग्राम के सौ खण्ड भी हो जायें तो प्रत्येक खण्ड पूर्ण माना

जाता है, पूजित होता रहेगा। नित्य परिपूर्ण में से अपूर्ण नहीं निकला करता -

'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥'

आपके माता-पिता, स्वजन-सम्बन्धी मरते हैं; क्योंकि आपका सम्बन्ध शरीर से है और शरीर मरता है। शरीर में जो चेतन है, वह तो अविनाशी है। देवता मूर्ति नहीं है, मूर्ति देवता का पीठ - शरीर है। मूर्ति के भंग होने से देवता नहीं मरा करता।

उस मूर्ति के खण्ड श्रद्धासहित दामोदर के जल में विसर्जित हो गये। वह मूर्ति - उसका पाषाण और जिसकी मूर्ति थी वह भी जहाँ से आये थे वहाँ पहुँच गये।

वनवासियों के लिए वह भद्रकाली-मूर्ति थी। अब स्वयम्भू-मूर्ति तो मिलने से रही; किंतु अब शुभ मुहूर्त में विहित पाषाण का शोधन करके वे स्पष्ट भव्याकार भद्रकाली-मूर्ति का निर्माण करा सकते हैं। उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है। वह सुदृढ़ होगी। इतने अल्पाघात से टूटने योग्य नहीं होगी।

यह दूसरी बात है कि वहाँ फिर भद्रकाली की प्रतिष्ठा नहीं हुई। राजगुरु ने घोषित कर दिया - 'भगवती छिन्नमस्ता एकाकिनी रहना चाहती हैं। उन्हें अपने सांनिध्य में और किसी अन्य शक्तिरूप की अर्चा स्वीकार नहीं है।'

राजगुरु की घोषणा ने वनवासियों को सांत्वना दी। उन्होंने मान लिया कि भगवती छिन्नमस्ता की प्रेरणा से ही वह वृश्चिक आया था। मूर्ति देवी की शक्ति से खण्डित हुई। इसमें किसी अमंगल की कोई आशंका नहीं है।

वनराज-

'आपके सखा दूसरे किसी को सेवा का कोई अवसर ही नहीं देते।' यमराज ने आगे आकर स्वागत किया था। बहुत मना करने पर भी पूरी पूजा की थी।

यद्यपि जीव का कोई नाम नहीं होता; किन्तु उसे सूचित करने के लिए संज्ञा तो देनी ही पड़ेगी। कभी किसी ने वृश्चिकों का नामकरण किया है? लेकिन वृश्चिक तो मर गया। यमपुरी जा पहुँचा। उसे हम-आप तब तक सुभद्र ही कहें, जब तक मनुष्य बनकर वह कोई दूसरी संज्ञा स्वीकार नहीं करता।

आपने सुरसरि के तट पर योग का आश्रय लेकर शरीर-त्याग दिया था। यमराज सूचना दे रहे थे - 'अब आप यह अनुमति दे दें कि आपके त्यक्त शरीरों के अग्नि-संस्कार की सेवा मुझे प्राप्त हो। अब तक आपके सखा स्वयं इसे करते आ रहे हैं। यह कार्य उनके योग्य तो नहीं है।'

'प्राणी के परिशोधन का कार्य आप करते हैं!' सुभद्र ने प्रार्थना अस्वीकार कर दी - 'प्राणियों के शरीरों का संस्कार आपके उपयुक्त नहीं है। कन्हाई मुझसे छोटा है; अतः वह मेरे

शरीरों के प्रति अपना कोई कर्तव्य मानता है तो आप उसे रोक सकेंगे?'

'मैं तो सेवक हूँ।' यमराज ने सूचना पूर्ण की - 'आपका वृश्चिक-शरीर जिस शुष्क पत्र-राशि में पड़ा था, उसे भी उन्होंने स्वयं अग्निप्रदान की और उस अग्नि को दावानल बना दिया। जिसने आपके उस शरीर पर आघात किया था, वह उसी अग्नि में भस्म हो गया। भस्म हो गये वहाँ उपस्थित वनवासियों के ग्राम और गृह।'

'कन्हाई यह क्या करता है?' सुभद्र को यह सूचना अच्छी नहीं लगी - 'वह क्या चाहता है कि मैं सदा वृश्चिक ही बना रहता। वृश्चिक-शरीर का प्रयोजन तो उस मूर्तिभंग होने से पूरा हो गया था। वनवासी तो निरपराध थे।'

'आप उनका स्वभाव जानते हैं।' यमराज और क्या कहते। कन्हाई स्वभाव से स्वजन-शरणागत-पक्षपाती है। भगवान् तो भक्तवत्सल होगा ही। यमराज ने सूचना पूरी की - 'जिस-किसी ने वृश्चिक की अवमानना में कहे शब्दों का समर्थन भी किया, उन्हें अग्निदग्ध होना पड़ा। ताप से तो छिन्नमस्ता-पीठ भी नहीं बचा। वह पूरा स्थान अग्नि-शुद्ध किया आपके सखा ने।'

यमराज तो भक्ताचार्य हैं। वे भाव-विह्वल अश्रु-वर्षा कर रहे थे। सुभद्र भी बोलने में असमर्थ हो रहा था। बहुत समय लगा उसे अपने को समाहित करने में। शान्त होने पर उसने पूछा - 'अब?'

'मैं तो आज्ञा-पालक हूँ।' यमराज ने हाथ जोड़े - 'आप कहाँ पधारेंगे, मैं कैसे कह सकता हूँ।'

'सृष्टि की मर्यादा बनी रहनी चाहिये।' सुभद्र ने शान्त स्वर में कहा - 'आपके कर्म-विधान की कोई धारा भंग नहीं करनी मुझे।'

'आपकी कोई संचित कर्मराशि तो है नहीं कि प्रारब्ध बने।' यमराज सोचने लगे। उन्होंने दो क्षण रुककर कहा - 'मानव-शरीर आपने वृश्चिक बनने का संकल्प करके त्यागा। वह संकल्प पूरा हो गया। अब केवल एक नियम है - बहुत उपेक्षणीय नियम; क्योंकि उसमें असंख्य अपवाद हैं।'

'वह नियम क्या है?' सुभद्र ने जानना चाहा।

'यदि कोई अपवाद न हो, कोई कर्म बाधा न बनता हो तो प्राणी को क्रमश: बढ़ने दिया जाय।' यमराज ने कहा - 'पदार्थ से

तृण-तरु, उद्भिज से स्वेदज-अण्डज, सरीसृप से चतुष्पाद् और अन्त में मानव।'

'इसका अर्थ है कि अब मुझे चतुष्पाद में से कुछ चुनना है।' सुभद्र को सोचना नहीं था। उसने तत्काल निर्णय के स्वर में कहा - 'आप मुझे सिंह बनने का सुयोग सुलभ कर सकेंगे?'

'जैसी आपकी इच्छा।' यमराज को कोई आपत्ति नहीं थी। उन्होंने केवल यह पूछा - 'आप उस छिन्नमस्ता-कानन को पुनः पवित्र करेंगे?'

'स्थान के सम्बन्ध में कोई आग्रह मुझे नहीं है।' सुभद्र ने स्वीकृति दे दी।

दावाग्नि-दग्ध कानन कभी उजड़ा नहीं करता। उलटे अगली वर्षा में ही अधिक सघन हो जाता है। तृण अवश्य नहीं उग पाते, तरु भी नवीन नहीं निकलते; क्योंकि बीज सब भस्म हो चुके होते हैं; लेकिन वह तृण-पत्तों और काष्ठ की भस्म खाद बन जाती है। दग्धतरु-मूल से शाखाएं फूटती हैं और शीघ्र बढ़ती हैं।

वृक्ष सघन हों तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग अपने-आप आश्रय लेने पहुँच जाते हैं। वनवासियों के गृह कोई राजसदन नहीं होते। उनकी झोंपड़ियाँ जलने पर उन्हें कठिनाई तो होती है; किन्तु वे शीघ्र अधजले काष्ठ और दूर से लाकर भी पत्ते-फूस से अपने गृह बना लेते हैं। वे तो भस्म हुए वन को वरदान मानते हैं। अनेक बार स्वयं वन में अग्नि लगाते हैं; क्योंकि राख में बीज डालकर वे सरलता से अन्नोत्पादन के अभ्यासी होते हैं।

छिन्नमस्ता-कानन शीघ्र पहले के समान सघन, सुन्दर तथा प्राणियों से पूर्ण हो गया था। भगवती छिन्नमस्ता की अर्चा उत्साहपूर्वक चलती थी। उसमें कोई व्यवधान नहीं आया था।

अवश्य प्रधान अर्चक को और उपस्थित वनवासियों को भी आश्चर्य हुआ, जब एक दिन एक अकेला सिंह-शावक वहाँ आ गया। उसने मनुष्य की उपस्थिति पर ध्यान ही नहीं दिया। आया और देवी को बलि दिये गये पशु का रक्त चाटकर चला गया।

साधारण बिल्ली-जितना बड़ा सिंह-शावक, उससे किसी को भय तो क्या लगता; किन्तु किसी ने उसे रोकने या पकड़ने का प्रयत्न भी नहीं किया। सरल वनवासियों में से किसी ने कहा - 'भगवती का वाहन है।'

'उनका वाहन न होता तो इतना छोटा बच्चा क्या सिंहिनी एकाकी छोड़ती है?' दूसरे ने समर्थन किया - 'इतने मनुष्यों के मध्य अशंक एकाकी और दिन में कोई बड़ा वनपशु भी कभी आने का साहस करता है?'

वह शावक तो प्रतिदिन आने लगा। उसकी चर्चा चल पड़ी। राजा और राजगुरु तक उसका दर्शन कर गये। अब उसके दर्शनार्थ लोग दूर-दूर से आने लगे। उसको भी बलि-भाग पृथक दिया जाने लगा। वह सबका श्रद्धा भाजन बन गया।

यह तो पता लग गया कि वह समीप ही एक गुहा में रहता है; किन्तु किसी को पता नहीं लगा गया कि वह कहाँ से आया। उसके जन्मदाता सिंह-सिंहिनी का जोड़ा कहाँ है अथवा उसका क्या हुआ, इस जन्म एवं परिवार-सम्बन्धी अज्ञान ने उस शावक की महत्ता और बढ़ा दी। वह दिव्य माना जाने लगा।

उसका आकार बढ़ना ही था। उसे अनुकूल आहार का अभाव कभी हुआ नहीं। अतः उसमें आखेट की वृत्ति ही नहीं जागी। उसमें मनुष्यों और पशुओं के प्रति केवल सामान्य उपेक्षा

थी। वह किसी के समीप नहीं जाता था। कोई उसके ही समीप जाने लगे तो उसकी गुर्राहट ही रोकने को पर्याप्त थी।

अच्छा पुष्ट शरीर था उसका। जब वह युवा हुआ, इतना बड़ा हो गया कि उसके आकार का सिंह कदाचित् ही सुना गया हो।

अनेक बार श्रद्धालु लोगों ने उसे सीधे पशु भेंट करने का प्रयत्न किया। बकरा या बकरी का बच्चा उसके सामने छोड़ा; किन्तु उसने किसी को मारने की चेष्टा नहीं की। चलते-फिरते सप्राण जीवन का वध भी किया जा सकता है, जैसे उसे यह समझ में ही न आता हो।

'ये केवल भगवती को अर्पित का ही प्रसाद स्वीकार करते हैं।' लोग बहुत श्रद्धा से उस सिंह का स्मरण करते थे। उसे पर्याप्त आहार प्राप्त होता रहे, यह व्यवस्था तो वहाँ के राजा ने ही कर दी थी।

'आज वनराज क्रोध में हैं। वह उत्साह या उमंग में भी गर्जना करता हो तो उसका लोग अर्थ लगाने लगते थे - वे इस वन के देवता हैं। पशुओं के राजा हैं। लगता है कि किसी हिंसक पशु ने

किसी दुर्बल पशु को सताया है। वह इनकी गर्जना से ही निष्प्राण हो जायगा।'

छिन्नमस्ता का उग्रपीठ। वहाँ संख्यावद्ध बलि होती थी। दोनों नवरात्रों में असंख्य पशु मारे जाते थे; किन्तु उस सिंह के कारण वह वन आखेट-वर्जित मान लिया गया था। वनवासी तक अन्यत्र आखेट करने जाते थे।

कोई विशेष घटना न भी हो तो भी पाञ्चभौतिक शरीर मरणधर्मा है। वहाँ तो एक आकस्मिक घटना हो गयी। एक विदेशी विधर्मी आ भटका उसे कानन में। अब बंगभूमि में भी यदा-कदा समुद्री दस्यु आ जाते थे। कभी-कभी वे स्थल पर कुछ दिन टिके भी रहते थे। उन्हीं में से कोई आ गया था। वन में उस वृद्ध बृहदाकार सिंह को देखकर उसका चित्त चंचल हो गया। इतना बड़ा वनराज आखेट के लिए भारी प्रलोभन था। उसने शर-संधान किया।

सिंह को कोई आशंका थी नहीं। उसके मर्मस्थान में बाण लगा। वह तत्काल गिर गया। प्राण-त्याग में उसे छटपटाना भी नहीं पड़ा।

समाचार फैलता तो वनवासी उस आखेटक और उसके साथियों को जीवित नहीं जाने देते। जीवित तो उनमें-से फिर भी कोई नहीं गया; किन्तु इस बार यह काम प्रकृति ने पूरा किया।

जिस सिंह-चर्म के प्रलोभन में उस आखेटक ने यह किया था, उस सिंह के स्पर्श से पूर्व ही उसके साथी चिल्लाने लगे। वन में दावाग्नि भड़क उठी थी और ग्रीष्म में दावाग्नि का वेग विकराल होता है। पतझड़ के पृथ्वी पर पड़े सूखे पत्तों की राशि में अग्नि विद्युत-वेग से बढ़ती है।

वे सब घिर चुके थे। उनमें-से एक भी भागकर बच नहीं सका। सिंह का शरीर भस्म होना था - हो गया; किन्तु इस बार मन्दिर या वनवासी ग्रामों तक पहुँचने से पहले ही अग्निदेव शान्त हो गये। उन लोगों में किसी की कोई हानि नहीं हुई।

दुर्दम दस्यु-

अनेक दस्युओं की प्रशंसा आपने सुनी होगी। डाकू निर्दय, निष्ठुर, हत्यारा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। वैसे तो विरोधी वर्ग महाराज छत्रपति शिवाजी और बन्दा बैरागी को भी डाकू ही कहता था।

दुर्दम क्यों दस्यु बना कोई नहीं जानता। कोई नहीं जानता उसका कुल-परिचय। केवल उसके सम्बन्ध की किवदन्तियाँ प्रचलित हैं। लोग कहते हैं - 'दुर्दम केवल शक-हूण सैन्य को लूटता है। वह किसी एकाकी व्यक्ति पर आक्रमण नहीं करता। किसी भारतीय जनपद को उसने कभी आक्रान्त नहीं किया।'

आपत्ति में पड़े लोग अरण्य में एकाकी जाकर 'भाई दुर्दम!' की पुकार ऐसे लगाया करते थे जैसे विपत्ति में प्राणी परमात्मा को पुकारता है। कहते हैं कि प्राय दुर्दम ऐसी पुकार सुनकर किसी सघन वृक्ष से कूद कर ऐसे सम्मुख आ खड़ा होता था जैसे वायु में से प्रकट हुआ हो।

गौर वर्ण, तपस्वी-जैसा तेजस्वी, उच्च सुगठित रस्सी के समान बटी कठोर काया। लम्बी भुजाएँ, उन्नत भाल, बड़े-बड़े

अरुणाभ नेत्र। लोग तो उसका ऐसा वर्णन करते थे जैसे वह देवपुरुष हो।

‘क्या कष्ट है’ दुर्दम किसी से अधिक नहीं बोलता था।

'जाकर कह देना दुर्दम ने अभय दिया है तुम्हें।' कोई कितने भी सबल के द्वारा उत्पीड़ित हो बहुत बार यह कहना ही पर्याप्त होता था - 'मैं भाई दुर्दम को पुकारने जाता हूँ।' कम ही निकलते थे जो इस धमकी की उपेक्षा कर दें और दुर्दम ने अभय दिया सुनकर तो हूणों का भी साहस समाप्त हो जाता था। भारतीय तो विश्वास करते थे कि देवपुरुष दुर्दम में असंख्य सिद्धियाँ हैं। उनको आकर किसी को दण्ड नहीं देना पड़ता। उनके अभय का अतिक्रमण करने वाला दो दिन भी जीवित नहीं रहता।

'कन्या का विवाह है और कंगाल हूँ।' अधिक ऐसे ही लोग दुर्दम को पुकारते थे। वे प्रायः ब्राह्मण होते थे। दुर्दम अभ्यस्त था। थैली लिए ही आता था। थैली फैंकी और वन में अदृश्य हो गया।

अनाश्रिता नारियाँ अभय हो गयी थी। उन्होंने भले कभी दुर्दम को देखा न हो; किन्तु दुर्दम को कोई 'पुत्र' कहती, कोई 'भाई'

और कोई 'पितृव्य'। अब किसी को मरने की शीघ्रता हो तो वह दुर्दम की माता, बहन या बेटी को सताने का साहस करे।

शक-हुण-सैनिकों में अद्भुत चर्चा थी - 'वह दस्यु दुर्दम मनुष्य नहीं है कोई दैत्य है, हवा को वह हैवान अश्व बना लता है। कहीं जानवर ऐसे उड़ सकता है। वह स्वयं हवा में से प्रकट हो जाता है। उसके धनुष से बाण एक ओर से आते यदि वह मनुष्य होता। वह जो आता है तो चारों ओर से बाणों की झड़ी लग जाती है।'

ग्राम और नगरों को अग्नि लगानेवाले, निरीह बालक-वृद्धों को भालों की नोक पर उछालकर अट्हास करनेवाले क्रूर हूण दुर्दम का आगमन सुनकर भय से काँपने लगते थे। उन्हें भागना किस ओर चाहिये - यह भी सूझता नहीं था।

मथुरा के मन्दिरों को जिन शकों ने ध्वस्त किया, उस पूरी सेना को अकेले दुर्दम ने लूट लिया। उसमें केवल आधे भाग सके।

दुर्दम कैसे यह कर पाता था? उसके साथ कोई एक साथी भी कभी देखा नहीं गया। वह शक या हूण सेना को पराजित करके केवल स्वर्णराशि ले जाता था। सम्भवतः आर्त, आपद-ग्रस्त,

अभावपीड़ित जनों को बाँटने के लिए। अस्त्र-शस्त्र, अन्न या और सामग्री वह अपने अश्व पर लादकर ले भी कैसे जा सकता था।

दुर्दम कहाँ रहता है? क्या खाता है? वर्षा में कहाँ आश्रय लेता है? उसकी लूट का स्वर्ण कहाँ रहता है? - इन सबका पता लगता तो शक उसे सकुशल रहने देते?

दुर्दम तो तब शत्रु-सेना पर प्रहार करता था, जब उसके आने की तनिक भी आशंका नहीं होती थी। वह घोर वर्षा की रात्रि में आक्रमण कर दे सकता था और समतल स्वच्छ मैदान में दिन में अश्व दौड़ाता आ सकता था। जैसे उसके लिए कुछ कठिन न हो; कोई अपराजेय न हो। लेकिन किसी ने नहीं कहा कि दुर्दम ने कभी किसी एकाकी आहत या असहाय को उत्पीड़ित किया है।

'चल चामुण्डे!' दुर्दम का दुर्धर उद्घोष था। लोग कहते थे - 'दुर्दम कितने शर-संधान करता है, उससे सौ-गुने सिर उस दिशा में शत्रुओं के चामुण्डा चबा लेती थी - जिस ओर दुर्दम दृष्टि उठाकर देख लेता है।'

क्या सचमुच दुर्दम सिद्ध पुरुष था? सचमुच उसकी पुकार पर चामुण्डा दौड़ पड़ती थी? कुछ कहनें का कोई साधन नहीं; क्योंकि

जो शत्रु-संख्या को कभी देखता नहीं, सहस्त्रों की सेना पर एकाकी टूट पड़ने का साहस करता है और जिसे कभी किसी ने आहत नहीं देखा, वह स्वयं सिद्ध न भी हो तो उसका कवच अवश्य अभेद्य होगा।

दुर्दम एकाकी अरण्य में रहता था। कभी कहीं और कभी कहीं भटकता। उसका गृह होना सम्भव नहीं। कोई गुहा आश्रय भी हो तो वह उसमें कभी ही रात्रि-विश्राम कर पाता होगा।

किसी ने कभी नहीं कहा कि उसे दुर्दम के आतिथ्य का अवसर मिला। तब उसका आहार क्या होगा वन में सदा सुपक्व फल नहीं मिलते। कन्द और पत्ते - दुर्दम स्वयं अन्न पकाता हो, यह अवसर उसे मिलता कब होगा?

उसे किसी ने साधारण वस्त्रों में देखा नहीं। वह जब दीखा, कवच कसे ही दीखा। शीतकाल में तो फिर भी कवच ठीक है, किन्तु ग्रीष्म में कवच संतप्त नहीं होता होगा?

जिसे सब ऋतुएँ समान हैं, वह तितिक्षु नहीं है? अपरिग्रही, अनिकेत, कन्द-फल-पत्र के आहार पर निर्भर अरण्यवासी दुर्दम के तपस्वी होने में तो संदेह किया नहीं जा सकता।

उस पर क्रूर, क्रोधी, अत्याचारी होने का आरोप किसी ने किया नहीं। जिह्वा उसे तंग करती तो ऐसा कठोर जीवन वह व्यतीत कर पाता और ब्रह्मचर्य का व्रती न होता तो एकाकी रहता सदा?

अब वह कोई साधन भी करता हो, इस सम्भावना को कैसे झुठलाया जा सकता है। ऐसी अवस्था में यदि लोग उसे 'सिद्धपुरुष' कहते हैं तो इसको भी सर्वथा कल्पित कहने का कोई आधार नहीं है।

'चल चामुण्डे!' चौंकते हैं महाराज विक्रम। यह कौन है, जो उनका अयाचित सहायक हो गया है? यह कौन है, जो अकस्मात् तब आ जाता है, जब वे भी शक-सेना की शक्ति देखकर सचिन्त होने लगते हैं? वह कौन है, जिसका उद्घोष शकों को तत्काल पलायन को बाध्य कर देता है?

'दस्यु दुर्दम!' सेनापतियों का संक्षिप्त उत्तर है - 'वे सिद्धपुरुष हैं। एकाकी आते हैं। किसी अपने पक्ष के जन से मिलते नहीं। उनका आक्रमण-वेग शत्रु के लिए सदा असह्य होता है।'

'दस्यु दुर्दम - कभी भूलकर भी मत कहना।' महाराज विक्रम ने प्रच्छन्न वेष में सैनिकों से भी मिलकर पूछा; लेकिन सैनिक बहुत श्रद्धालु हैं। दुर्दम के प्रति अतिशय सम्मान है सैनिकों में। वे कहते हैं - 'देवपुरुष दुर्दम क्या मनुष्य हैं कि कोई उनका परिचय पायेगा। वे तो देवोत्तम हैं। हमारे महाराज विक्रम परम धर्मात्मा हैं। परदु:ख-कातर रहते हैं। धर्म-रक्षा के लिये शकों से संग्राम करने चले हैं। अत: दया करके दुर्दम प्रत्येक कठिन अवसर में महाराज की सहायता करने आकाश से उतर आते हैं।'

'चल चामुण्डे!' चौंकता है स्वप्न में भी मंगोलिया से आया वह महादानव मिहिरकुल भी। वह प्रलयंकर का पूजक, जनपदों को श्मशान बना देने का व्रती, दया और करुणा तो जानता ही नहीं। जो गर्व से कहता है - 'भय और कृपा के भाव सृष्टिकर्ता ने मिहिरकुल के लिए सर्जन नहीं किये।'

शिव का नहीं, श्मशानी कपर्दी का अग्रदूत, महाभैरव की मूर्ति - मिहिरकुल भी चौंकता है। कहने लगा है - 'मैं विक्रम को देख लेता। अवन्ती का यह शासक - किन्तु दुर्दम का क्या करूँ? उस आकाश से उत्तर आने वाले को कहाँ ढूंढूँ? विक्रम उसके सहारे अजेय हो गया है।'

मिहिरकुल स्पष्ट कहता है - 'पता नहीं, मेरे किस अपराध से मेरे आराध्य पुरारि ने अपना कोई भूत प्रतिपक्ष की सहायता को भेज दिया है। लेकिन वह भूत भी नहीं है। भूत के पुकारने पर चामुण्डा दौड़ा नहीं करती। वह कोई शिव का सुत है या साक्षात अंश है। मैंने गणपति, कार्तिक या वीरभद्र का तो कोई अपमान नहीं किया? यह दुर्दम नाम लेकर कौन मेरे पीछे पड़ा है?'

मिहिरकुल नैष्ठिक शैव था। उसकी क्रूरता, हिंसा, महासंहार भी उसकी निष्ठा का अंग थी। उसमें दूसरा कोई दोष नहीं था। उसने अपने पुरोहित से पूछा तो उसके तान्त्रिक पुरोहित ने कह दिया - 'हमारी कोई साधना, कोई ध्यान उनके स्वरूप को स्पष्ट करने में असमर्थ है। मैं भी आपके समान केवल अनुमान कर सकता हूँ कि उन्हें भगवान् नीलकण्ठ और अम्बा का भी आशीर्वाद तथा स्नेह प्राप्त है।'

'सुना था, भारतभूमि मेरे भूतनाथ को भी बहुत प्रिय है।' मिहिरकुल ने मस्तक पर हाथ पटका - 'किन्तु क्या पता था कि यहाँ विभूति अर्पण का अपने अर्चक का प्रयास भी उन्हें इतना अप्रिय हो जायगा कि वे इसके विपक्ष में अपना कोई प्रियजन भेज देंगे।'

मिहिरकुल पराजित होता गया। पीछे हटता गया और अन्त में कश्मीर में उसे आत्मसमर्पण ही करना पड़ा। उस मनस्वी ने विक्रमादित्य की कृपा से प्राप्त सामन्त-पद स्वीकार नहीं किया। उसने एकाकी, शस्त्रहीन, हिमालय में शरीर-त्याग के लिए प्रस्थान किया।

'विक्रम! तुम बतला सको तो केवल यह बतला दो!' मिहिरकुल ने जाते-जाते पूछा था - 'तुम्हें विजयी बनालनेवाला कौन है? जिस दुर्दम ने वस्तुत: मिहिरकुल को शस्त्र-समर्पण को बाध्य किया, वह है कौन?'

'मैंने उन देवपुरुष के कभी दर्शन नहीं किये।' विक्रमादित्य भी क्या बतलाते - 'मैं या मेरी सेना का कोई नहीं जानता कि वे कौन हैं? क्यों उन्होंने इस जन को अपना कृपा-भाजन माना? वे कब आवेंगे, कहाँ चले जाते थे, हमें कुछ पता नहीं है।'

शकारि का शील-

अरण्य एक रात्रि में - पहली बार रात्रि में गूँजा - 'भाई दुर्दम!'

'भाई दुर्दम!' चौंक गया सुनकर दुर्दम भी। इससे पूर्व तो कोई पुकारनेवाला रात्रि में नहीं आया। दुर्दम का वह आवास-अरण्य हिंस्त्र पशुओं से पूर्ण है, यह सब जानते हैं। तब यह रात्रि में एकाकी अरण्य में पुकारनेवाला कौन आ गया?

'भाई दुर्दम!' नहीं, यह किसी आर्त का, आपदग्रस्त का कातर कण्ठ नहीं है। किंचित् भी कम्प नहीं है स्वर में।

'भाई दुर्दम!' यह किसी आवश्यकता-पीड़ित कंगाल की पुकार भी नहीं है। स्वर में न दैन्य है, न आतुरता।

'भाई दुर्दम!' ऐसा घनघोष सामान्य मानव-कण्ठ से नहीं उठा करता। यह तो किसी लोकोत्तर पुरुष का स्वर है; किन्तु कोई लोकोत्तर पुरुष एक दस्यु को पुकारने आ गया?

'भाई दुर्दम!' सम्भवत: पुकारनेवाला निराश हो गया था कि उसकी पुकार सुनकर दुर्दम सामने आवेगा। अत: उसने पुकारकर

कहा - 'मेरा विश्वास है कि आप मेरा स्वर सुन रहे हैं। आप अपने दर्शन का अनधिकारी मानते हों तो मैं आग्रह नहीं करूंगा। आप अलक्ष्य रहकर भी इस ज्योत्स्ना-धवल निशा में देख सकते हैं। अवन्ती का विक्रम आपका अभिवादन करने आया है।'

'ऐसा नहीं हो सकता सम्राट!' सहसा तरु-शाखा पर से दुर्दम कूदा और कोश से खड्ग खींचने को उद्यत विक्रमादित्य के दक्षिण कर को उसने पकड़ लिया - 'भारत का पर-दुख-भञ्जन-व्यसनी सम्राट तुच्छ दस्यु को अभिवादन करे, यह असह्य है।'

'किसने कहा - कौन कहता है कि देवपुरुष दुर्दम दस्यु है?' विक्रम ने हाथ नहीं छुड़ाया; किन्तु मस्तक झुका दिया। वे कह रहे थे - यदि आततायी का दमन दस्युधर्म है तो विक्रम संसार का सबसे बड़ा दस्यु कहलाने में अपना गौरव मानेगा।'

'सम्राट्! सत्य को तर्क से अन्यथा नहीं किया जा सकता। दुर्दम दस्यु है। असावधान शत्रु पर अकस्मात आक्रमण करनेवाला दस्यु। सुनेंगे, मैं क्यों दस्यु बना?' दुर्दम दो क्षण को चुप हो गया।

'तब मैं किशोर ही था, जब मेरे ग्राम पर, गृह पर शकों ने आक्रमण किया।' महाराज विक्रमादित्य शान्त सुनते रहे। दुर्दम

स्वयं सुना गया - 'मेरे पिता का उन्होंने शिरच्छेद किया। मेरी जननी के उदर में पूरा खड्ग उतार दिया। मेरी तीन वर्ष की स्वसा को भाले पर उठा लिया। मेरे गृह को, पूरे ग्राम को अग्नि लगाकर भस्मराशि बना दिया।'

'मत पूछिये कि मैं भागकर, छिपकर कैसे बचा?' सम्भवत: दुर्दम ने अश्रु पोंछे। उसका स्वर भर्रा उठा था - 'मैं अकेला बचा। मेरे ग्राम के पशु तक अग्नि की आहुति बन गये। मैं अरण्य में आ गया। असमर्थ का आक्रोश असफल होता है, समझ गया था। मैं शकों का शत्रु हो गया। व्यक्तिगत शत्रुता से प्रेरित मैं शक-हूण-संहार कर रहा था। कोई महदुद्देश्य मेरे सामने नहीं था।'

'इससे आपके देवपुरुष होने में अन्तर कहाँ पड़ता है?' विक्रमादित्य अब बोले - 'भगवान् परशुराम ने व्यक्तिगत शत्रुता से इक्कीस बार भूमि के क्षत्रियों का संहार किया, इससे उनकी भगवत्ता म्लान होती है? उनका प्रेरणा-स्रोत कुछ रहा हो, उनके द्वारा आततायियों का दमन हुआ। धर्म की मर्यादा रक्षित हुई। आपकी स्थिति मुझे इससे भिन्न तो नहीं लगती है।'

'उन भगवदवतार से एक क्षुद्र दस्यु की क्या समता?' दुर्दम ने मस्तक झुका लिया।

'मैं आपसे तर्क करने यहाँ नहीं आया।' विक्रम ने अब स्वर विनम्र बनाया - 'सुना है कि कोई एकाकी आकर आपके अरण्य में भाई दुर्दम का आह्वान करता है तो सुरतरु-समान देवपुरुष के श्रीचरणों से कभी निराश नहीं लौटता। विक्रम भी कामना लेकर ही आया है। मानता हूँ, मुझसे प्रमाद हुआ। याचक को सशस्त्र नहीं आना चाहिये; भूल समझ में आने पर सुधार न ली जाय तो अपराध हो जाती है और अपराध अक्षम्य भी हो सकता है। मैं अपनी भूल सुधारे लेता हूँ।'

दुर्दम ने शीघ्रतापूर्वक सम्राट विक्रमादित्य के दोनों हाथ पकड़ लिये; क्योंकि वे खड्ग को कटि से ही खोलने जा रहे थे। वैसे वे बिना कवच धारण किये आये थे। उस खड्ग के अतिरिक्त दूसरा कोई शस्त्र उनके पास नहीं था। दुर्दम ने बहुत नम्रतापूर्वक कहा - 'सम्राट् एक दस्यु को बहुत अधिक आदर दे रहे हैं।'

'मैं देवपुरुष का अभिवादन करने आया था।' विक्रम ने अब शस्त्र त्याग का प्रयत्न छोड़कर कहा - 'क्षत्रिय को अपने अनुरूप अभिवादन करना चाहिये, केवल इस अभिप्राय से यह शस्त्र साथ लेता आया। लेकिन आप याचक की कामना तो सुनेंगे?'

'परदुःख-कातर, शीलस्वरूप, औरों के लिये सिर हथेली पर लिये, घुमनेवाले, धर्ममूर्ति, देह तक से निःस्पृह सम्राट को वरदान देने में भगवान् आशुतोष को भी दो बार सोचना पड़ेगा।' दुर्दम ने हँसते हुए विक्रम का हाथ छोड़कर कहा - 'दस्यु इतना दुस्साहसी नहीं हो सकता। केवल सम्राट के काम्य को सुनने का कुतूहली हूँ।'

'अकेला शौर्य इतना समर्थ नहीं हो सकता था कि उसके सम्मुख शकराज मिहिरकुल हाहाकार कर उठे। देवपुरुष कितने सतर्क हैं, यह देख लिया मैंने।' विक्रम ने अब बिना किसी भूमिका के निवेदन किया - 'मैं प्रार्थना करने आया हूँ कि देवपुरुष अवन्ती के सिंहासन को भूषित करें! यदि अनधिकारी न मानें तो विक्रम को अपना सेनापति स्वीकार करके सेवा का अवसर दें!'

'सम्राट! दुर्दम अशिक्षित दस्यु है। यह इस योग्य भी नहीं है कि आप इसे अपना सेनापति बनाना चाहें।' दुर्दम ने प्रस्ताव का दूसरा ही अर्थ लिया - 'स्वीकार करता हूँ कि आप-जैसे उदार, धर्मात्मा, परदु:खभञ्जन-तत्पर शासक के समय में कोई दस्युधर्मा बना रहे, यह शासन पर कलंक है; किन्तु दुर्दम की ओर से आप निश्चिन्त रह सकते हैं। अब दस्यु दुर्दम का नाम आपको कभी सुनायी नहीं पड़ेगा।'

'यह मेरे लिए मृत्यु स्वीकार करने योग्य बात है।' विक्रम के नेत्र भर आये - 'यदि आप मेरे प्रस्ताव का ऐसा कोई तात्पर्य ग्रहण करते हैं तो विक्रम कल प्रातः का सूर्योदय नहीं देखेगा।'

'शान्तं पापम्!' दुर्दम ने सम्राट को हृदय से लगा लिया। उनके ही उत्तरीय से उनके नेत्र पोंछे; क्योंकि उसके समीप तो कोई उपयुक्त वस्त्र था ही नहीं। वह तो सदा संनाह-संनद्ध रहता था।

'महाराज! आप समझने का प्रयत्न करें।' दुर्दम ने बहुत स्नेह एवं आग्रह के स्वर में समझाया - 'दस्यु तो समय की आवश्यकता थी। शकों के उत्पात ने दुर्दम-दस्यु को उत्पन्न किया था। अब वह आवश्यकता समाप्त हो गयी; अतः दस्यु को क्यों रहना चाहिये?'

'दस्यु समाप्त होगा; किन्तु सम्राट रहेगा।' विक्रम ने बहुत बल देकर कहा।

दुर्दम ने उसी समय अपना कवच उतार दिया। पहली बार किसी ने दुर्दम को कवचहीन देखा। वह केवल कच्छ पहने था; किन्तु ज्योत्स्ना में उस देवपुरुष का अनावृत देह अधिक भव्य, अधिक कान्तिपूर्ण दीख रहा था। यदि कवचधारी दुर्दम किसी को

दस्यु जान भी पड़ता रहा हो तो अब इस रूप में उसे देखनेवाला केवल इसके पदों में मस्तक रख सकता था।

'सम्राट रहेगा! सम्राट यशस्वी रहेगा!' दुर्दम ने कवच उतार कर दक्षिण भुजा उठाकर उद्घोष किया - 'शकारि सम्राट् विक्रमादित्य की जय!'

'जय कहाँ हुई देवपुरुष!' विक्रम का स्वर हताश-शिथिल हो गया - 'आप-जैसे कल्पतरु के समीप भी विक्रम विफलकाम ही बना रहा।'

'सम्राट! सृष्टिकर्ता सोद्देश्य सृजन करता है। जब जिसका दायित्व समाप्त हो जाता है, उसे यहाँ से चले जाना पड़ता है। ऐसा न होता तो मृत्यु की सत्ता ही नहीं होती।' दुर्दम किसी ऋषि के समान गम्भीर वाणी में बोल रहा था - 'विदेशी आततायी दमित होकर शान्त हो गये। आतंक से प्रजा को परित्राण मिल चुका। आराध्य पीठों पर सुर-प्रतिमाएँ और गृहों में सतियाँ सुरक्षित हो गयीं। प्रजा को परदुःख-कातर शकारि-जैसा शीलसम्पन्न, धर्मज्ञ सम्राट् प्राप्त हो गया। अब दस्यु दुर्दम की तो कोई आवश्यकता सृष्टिकर्ता के समीप भी नहीं है। यह स्वयं स्थान नहीं छोड़ेगा तो

सर्वेश्वर के नियम यह सहन करेंगे? अत: आप स्वस्थचित्त अवन्तिका पधारें।'

'विक्रम अवज्ञा का दुःसाहस नहीं कर सकता; किन्तु अभागा ही रहा।' सम्राट ने शीघ्रतापूर्वक झुककर उसके चरण छू लिये। वे सिर झुकाये शिथिल पदों से लौट चले। थोड़ी दूर जाकर फिर घूमकर देखा उन्होंने। सम्भवतः वे हाथ जोड़कर एक बार और अभिवादन करना चाहते थे; किन्तु हरित तृणों पर पड़ा दुर्दम का केवल कवच चाँदनी में चमक रहा था। दुर्दम वहाँ से चला गया था।

शकारि के लिए रात्रि-जागरण अस्वाभाविक नहीं था। वैसे भी वे रात्रि में प्रजा का छिपकर निरीक्षण करने में प्रसिद्ध थे; किन्तु दूसरे दिन के प्रभात ने उन्हें बहुत दुःखी किया।

'सम्राट। अशुभ-समाचार के लिए क्षमा करें!' दिन के प्रथम प्रहर की समाप्ति ही हुई थी कि महामन्त्री आ गये। उनका वेष अस्त-व्यस्त था। स्वर भरा हुआ था। नेत्र की अश्रुधारा किसी प्रकार रोकी थी उन्होंने। 'एक किरात अभी आया है। उसका कहना है कि क्षिप्रातट पर सूर्योदय के समय देवपुरुष दुर्दम ने

पद्मासन से बैठकर देह-त्याग कर दिया। उनका शरीर थोड़ी ही देर पीछे स्वयं कर्पूर के समान जल गया।'

'हम उन देवोत्तम को जलाञ्जलि देंगे।' शकारि ने नेत्र पोंछने की भी आवश्यकता नहीं मानी। वे तत्काल सिंहासन से उठ खड़े हुए।

काला पहाड़-

असम और सम्पूर्ण बंगाल (बंगलादेश) सहित - में अब भी काला पहाड़ का नाम आतंक उत्पन्न करता है। अत्यन्त क्रूर मन्दिर-ध्वंसी के रूप में वह जाना जाता है। वैसे उसने नर-संहार भी कम नहीं किये।

'काला पहाड़' - यह नाम उसको लोगों ने दे दिया था; क्योंकि उसका शरीर स्थूल होने के साथ असाधारण विशाल था और कोयले के समान वर्ण था उसका।

वह धोखे-से मुसलमान बना लिया गया था। इसमें बनानेवालों का उतना दोष नहीं था, जितना हिन्दू-समाज की कट्टरता, अज्ञता और अविचारिता का। यह भी कोई बात है कि किसी कूप या सरोवर के सम्बन्ध में सच्ची-झूठी कोई अफवाह फैल जाय कि उसमें किसी ने गो-रक्त या गो-मांस डाल दिया था तो अनजान में उसका जल उपयोग करनेवाले सब धर्म-बहिष्कृत मान लिये जायें।

कोई समाज इतना अज्ञ और संकीर्ण हो जाय, तब उसकी दुर्बलता का लाभ दूसरे उठावेंगे? चाहे जितनी दुःख की और

अयोग्य बात हो, भारत के अतीत में सैंकड़ों स्थानों में हुआ, इतिहास इसका साक्षी है। ऐसे समय समाज-बहिष्कृत व्यक्ति कितना असहाय हो जाता होगा, अनुमान किया जा सकता है।

काला पहाड़ ऐसे ही किसी काण्ड का आखेट हो गया। उसने बहुत प्रयत्न किया, इतिहासकार तो कहते हैं कि उसने किसी भी प्रायश्चित की तत्परता दिखलायी, कितना भी व्यय करने को उद्यत हुआ; किन्तु उस समय के संकीर्ण विद्वन्मन्य वर्ग ने कुछ स्वीकार नहीं किया। उनकी समझ में अनजान में आयी यह अशुद्धि इतनी बड़ी थी कि मरणान्त-प्रायश्चित से कम उन्हें कोई उपाय सूझा ही नहीं।

आप किसी को एकमात्र उपाय अग्नि में जल मरना बतावेंगे तो वह आप पर प्रसन्न होगा या आपका स्वागत करेगा? काला पहाड़ के मन में आक्रोश जागा, प्रतिहिंसा की आग भड़की। हिन्दू-समाज से उसे घृणा हो गयी। यह कहाँ अस्वाभाविक थी?

काला पहाड़ का यह अपमान, यह बहिष्कार बहुत महँगा पड़ा। वह उद्यत हो गया। उसने भरपूर बदला लेने की शपथ ली। अपनी शक्ति-सामर्थ्य के अनुसार वह हिन्दू-समाज को ही समाप्त कर देने में जुट गया।

काला पहाड़ शूर था, शक्तिशाली था, सम्पन्न था और उसका सम्मान था। यह तो ऐसा ही हुआ की तलवार उत्कृष्ट चुनी, सान धरायी और अपने कट्टर शत्रु को सौंप दी। उस समय के शासक दिल्ली के सूबेदार होते थे असम-बंगाल में। उन्होंने काला पहाड़ का स्वागत किया। उसे सेना दी और प्रोत्साहन दिया। यह होना ही है - जो यह नहीं समझ सके, उनकी समझ को क्या कहा जाय।

काला पहाड़ स्वयं शक्तिशाली था। शरीर और शस्त्र-संचालन में उसकी समता नहीं थी। उसे सैनिक मिल गये, ऐसे सैनिक जिनको लूटना, मारना, मन्दिर ध्वस्त करना प्रिय था। शासक का समर्थन ही नहीं, प्रोत्साहन प्राप्त हो गया। काला पहाड़ प्रचण्ड हो उठा।

'काला पहाड़ आ रहा है।' समाचार से ही नगर तक सुने हो जाते थे, ग्रामों की गणना कौन करे; क्योंकि काला पहाड़ अपने सैनिकों को केवल एक आज्ञा देना जानता था - 'इस बस्ती की हस्ती मिटा दो।'

बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष और पशु जो भी मिल जाते तलवार की घाट उतार दिये जाते। घरों को पहले लूट लिया जाता और फिर अग्नि की भेंट कर दिया जाता। काला पहाड़ अपने पीछे धू-धू करते ग्राम-नगर और उसमें से शवों के जलने की दुर्गन्धि से पूर्ण उठता धुआँमात्र छोड़ता जाता था।

काला पहाड़ - जैसे सचमुच कोई सचल ज्वालामुखी पर्वत हो जो जनपदों को कुचलता-जलाता घूम रहा हो। वह स्वयं न लूट में भाग लेता था और न स्त्रियों में उसका आकर्षण था; किन्तु अपने सैनिकों को इससे रोकने की चेष्टा भी उसने नहीं की।

काला पहाड़ के विशेष लक्ष्य बने देव मन्दिर। जहाँ भी मन्दिर थे, वे नगर-ग्राम भाग्यहीन सिद्ध हुए। मन्दिरों का तो चिह्न भी उसे चिढ़ाता था। वह हिन्दू-धर्म के किसी प्रतीक को सह नहीं पाता था।

'काला पहाड़ आ रहा है।' नगर सुनसान हो जाते थे। लोग पैदल, अश्व या छकड़ों पर जो ले जाया जा सकता हो, लेकर चल देते थे। अरण्य ही एकमात्र शरण थे।

योजनों तक भागती भयत्रस्त भीड़! प्राणभय में कोई सामग्री या स्वजन सँभाल पाता है? शरीर ही बचा सकने के लाले पड़ें तो पशुओं को कैसे देखा जाय।

इस भगदड़ ने काला पहाड़ को अधिक क्रुद्ध किया। उसे रोगी, अत्यन्त वृद्ध, शिशु या भागने में असमर्थ सगर्भा स्त्रियाँ ही प्रायः जनपदों में मिलती थीं। वह इनमें किसी को जीवित नहीं छोड़ता था; किन्तु खीझ बढ़ती थी उसकी। उसके सैनिक - वे पिशाच भी उत्तरोत्तर उद्धत होते गये। उन्हें लूट में कम महत्त्व का माल मिलता है, यह उनको क्रुद्ध करता था।

काला पहाड़ को आप पशु कहें, पिशाच कहें या मृत्युदूत कहें, वह अपनी प्रतिहिंसा से प्रेरित था। दूसरा कोई प्रयोजन उसका था नहीं। कोई होता तो सम्भव था कि उसकी पूर्ति पर वह विरमित होता; किन्तु उसके हृदय में अग्नि जल रही थी। वह ग्रामों-नगरों को उजाड़ता घूम रहा था।

काला पहाड़ आ रहा है। यह संवाद उस छोटे ग्राम में भी पहुँचा। अरण्य के समीप का छोटा ग्राम। काला पहाड़ वहाँ क्या लेने आ रहा है, पूछना व्यर्थ था। काला पहाड़ तो प्रलय का

अन्धड़ था। अन्धड़ चलता है तो छोटे या बड़े नगर को बचाता है?

अब समाचार बहुत पहले प्राप्त हो जाता था; क्योंकि काला पहाड़ वर्षों से देश की विपत्ति बना था। उसे न कोई रोकनेवाला था, न उससे कोई पूछनेवाला। उसकी पिशाच-सेना जिधर चल पड़ी, उधर से कहाँ जाकर मुड़ेगी, कुछ पता नहीं होता था। अत: उस दल के प्रयाण की दिशा के नगर-ग्रामों में कई सप्ताह पूर्व भगदड़ प्रारम्भ हो जाती थी। अनेक बार ऐसे सुनसान ग्रामों के समीप से काला पहाड़ निकल गया। अनेक जनपद उसके भागे निवासियों को पीछे सुरक्षित मिलते थे। लेकिन मरण के मुख में जान-बूझकर तो कोई जाता नहीं।

'काला पहाड़ आ रहा है।' समाचार बहुत पहले मिल गया था। ग्राम छोटा था, अरण्य समीप था, अत: सुरक्षा के सम्बन्ध में सोचने, सम्मति करने को समय प्राप्त था। ग्राम के पुरुष एकत्र हुए। उस समय पुरुष ही ऐसे समय निर्णय करते थे। स्त्रियों की सम्मति नहीं ली जाती थी। उन्हें केवल अनुगमन करना था।

दुर्गम अरण्य में जल की सुविधा ज्ञात थी। ग्राम के सब लोग वहाँ रह सकते थे और इतना समय था कि सब सामग्री एवं पालतू

पशु भी ले जाये जा सके। इस सुयोग को त्याग देना, कोई उचित नहीं कह सकता था। दूसरे ही प्रभात में सम्पूर्ण ग्राम को सूना छोड़ देना निश्चित हो गया। अवश्य कुछ तरुण शेष सामग्री दोबारा आकर छकड़ों पर ले जायेंगे, यह भी निर्णय हो गया।

'मैं अपनी आराध्या को छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगा।' ग्राम में एक छोटी-सी कालीबाड़ी थी। उसका अकेला दुर्बलकाय पुजारी अड़ गया।

मनुष्यता मरी नहीं थी। विपत्ति आयी थी, बड़ी थी; किन्तु सहसा सिर पर नहीं कूदी थी। अतः वृद्ध, रोगी, शिशु, असमर्थों को पहले शकटों से भेजना निश्चित हुआ था। कालीबाड़ी का पुजारी सम्मानित होने से पहले भेजा जा रहा था; किन्तु वह नहीं गया तो उसे समझाने का प्रयत्न चलता रहा। साथ ही ग्राम के शकट भी अरण्य में ओझल होते रहे।

'काला पहाड़ क्रूर पिशाच है। वह आसन्नप्रसवा नारियों को भी नहीं छोड़ता तो आप-जैसे ब्राह्मण को छोड़ेगा?' ग्राम के लोगों के वश में समझाना ही था।

'मेरी शिखा, मेरा यज्ञोपवीत, मेरा तिलक - सब उसे क्रुद्ध करेगा, यह जानता हूँ।' पुजारी अडिग था - 'किन्तु काला पहाड़ की कृपा मुझे चाहिये कब? काली को यदि मेरी बलि चाहिये तो मैं बलि-पशु बनूँगा। यह मुण्डमालिनी यदि अपनी माला में मेरे सिर को स्थान देती है तो मेरा अहोभाग्य।'

और किसी को तो बलि-पशु बनना नहीं था। पुजारी को छोड़कर सबको जाना पड़ा। वह प्रतिमा को भी ले जाने के पक्ष में होता तो लोग यह कर लेते; किन्तु वह तो प्रतिष्ठित प्रतिमा को उठाने के भी पक्ष में नहीं था।

काला पहाड़ को आना था, आया। कालीबाडी पहुँचा तो बहुत क्रुद्ध था। बहुत क्रोधभरे थे उसके सैनिक। वे एक तो इस छोटे गाँव तक आये और दूसरे यहाँ कोई नहीं मिला। किसी घर में दो मुट्ठी चावल या एक पशु भी नहीं।

'कहाँ गये गाँव के सब लोग?' काला पहाड़ चिल्लाया। उसके सैनिकों ने तलवारें खींची; किन्तु पुजारी मौनी बन गया था। उसने मुख नहीं खोला। उसे छोड़ देने का प्रलोभन दिया गया, तब भी नहीं।

काला पहाड़ धैर्य रखकर अनुनय करनेवाला नहीं था। गाँव के भागे लोगों का पता लगाने का भी उसे प्रयोजन नहीं था।पुजारी मन्दिर के द्वार पर अड़ा था, यह उसे असह्य था।

'गाँव को फूँक दो!' उसने सैनिकों को आदेश दिया। तलवार के एक झटके से पुजारी का सिर कटकर मूर्ति के सम्मुख जा पड़ा। अन्तिम बार उसने पुकारा था - 'माँ! मैं असहाय हूँ।'

काला पहाड़ मूर्ति-भञ्जन करने भीतर पहुँच गया। अब यह कहना कठिन है कि वह भीतर क्या कर सका। उसे बहुत शीघ्र भागना पड़ा। सम्भवतः उसके आदेश से पूर्व ही उसके मूर्ख सैनिकों ने ग्राम में आग लगा दी थी। फूस के झोंपड़ों का ग्राम और हवा का ऐसा वेग कि काला पहाड़ मन्दिर में पहुँचा, तब तक वह मन्दिर - कालीबाड़ी लपटों की गोद में पहुँच चुका था।

काला पहाड़ झुलस गया। उसके वस्त्रों तक अग्नि पहुँच गयी थी। उसके सैनिकों में अनेक जल मरे। वह स्वयं अपने जलते वस्त्र उतारकर भागा और किसी प्रकार अश्व तक पहुँचा।

पता नहीं, उस वन के समीप के गाँव के झोंपड़े कैसे तृणों से बने थे। वहाँ जिनको भी धुआँ लगा, सब अन्धे हो गये। काला

पहाड़ स्वयं तड़प-तड़प कर मरा। उसके शरीर में असह्य जलन उत्पन्न हो गयी। उस समय के हकीम उसे अच्छा नहीं कर सके।

ग्रामवासी पीछे लौटे; किन्तु उन्हें तो कालीबाड़ी में पुजारी की भस्म ही मिली।

भट्ट भैरव-

अपने को तान्त्रिक कहना-लिखना आजकल बहुत सरल हो गया है; किन्तु वीर-सिद्ध तान्त्रिक सुनने में भी नहीं आता। कहीं कोई हो तो मुझे पता नहीं।

कुछ चेटक की सिद्धियाँ, लाल वस्त्र और अटपटा ढंग किसी को तान्त्रिक नहीं बना देता। पहली बात, यदि शरीर ढीला है, काया कोमल है, तोंद थोड़ी भी है तो आप समझ लें कि वह तान्त्रिक नहीं है।

किसी कठोर काया, नेत्र अंगार से जलते और अत्यन्त कृष्णवर्ण, यह भट्ट भैरव था। ऐसा व्यक्ति, जिसे सम्भवतः मनुष्यमात्र से चिढ़ थी। इतना कर्कश स्वर कि साधारण भी बोले तो डाँटना लगता था। उसके समीप जाते बड़े-बड़े थर्राते थे।

श्मशान के समीप सरिता-तट पर उसकी गुफा थी। सम्भवत: कगार खोदकर स्वयं उसने बनायी होगी। कितनी गहरी थी, कौन बतला सकता है। उस रहस्यमयी गुफा के समीप जाते भय लगता था।

'क्राँ क्रीं क्रु', भट्ट भैरव ऐसा ही कुछ बड़बड़ाता रहता था। कटि में केवल लाल कोपीन और बिखरे-उलझे केश। उसके कठोर शरीर से सम्भवत: शीत भी भयभीत था।

भट्ट भैरव समीप के बाजार में जाता था। उसे देखते ही स्त्रियाँ बालकों को लेकर घर में भागती थीं। युवक तक द्वार बंद कर लेते थे। दुकानदार और दूसरे लोग हाथ जोड़े सिर झुकाये खड़े रहते थे। किसका साहस था कि भट्ट भैरव की ओर सीधे देखे।

भट्ट भैरव कभी याचक नहीं बना। वह आदेश देता था, किसी को भी दे सकता था - 'सिंदूर सवा पाव' अथवा 'मलाई पाँच सेर।' वह नारियल ही नहीं, उड़द, पीली सरसों और सुरा तक ऐसे ही लेता था। वह आज्ञा करे, वह उपस्थित कर दो! उससे कुछ कहने का साहस किसी में नहीं था। लाल वस्त्र में बाँधकर वह सामग्री रख दो। भट्ट भैरव उस पर हाथों से अनेक मुद्रा बनावेगा, कुछ पढ़ेगा और फिर स्वयं उठा ले जायगा।

दूसरे आराधकों की तो बात छोड़ दो, कामाख्या पीठ के कुलाचार्य तक भट्ट भैरव का नाम सुन कर हाथ जोड़कर श्रवण-स्पर्श करते थे। उनका कहना था - 'वे साक्षात् भैरव है - भवानी के

पुत्र। उनके इंगित पर अट्ठाईस वीर दौड़ते हैं। वे वीर, जो पलक मारते मनुष्य को मूली के समान समूचा चबा लेते हैं।'

आप जानते हैं कि ऐसे प्रवाद बहुत बढ़ाकर कहे गये होते हैं; किन्तु इतना सत्य है कि भट्ट भैरव वीर-सिद्ध था। सम्भव है, एकाधिक वीर उसके वश में हों। लेकिन वह अनेक बार अपनी गुफा के बाहर अपने कर्कश स्वर में स्तुति करते सुना गया -

काली. त्रिनेत्रवदनां विनिमुक्तकेशा
खट्वांगखड्गहस्तां विकरालवेशाम्
रक्तांगलिप्तनग्नां नृकरोटिहारां
वन्दे शवाधिरूढां मनसैव ताराम्।।

आप यदि कर्मशास्त्र से कुछ भी परिचित हैं तो भट्ट भैरव को पहचानने में आपको कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

दस्यु दुर्दम की उग्रता ने उसे कालीवाड़ी के पुजारी के रूप में जन्म दिया। उसमें दृढ आस्था बनी रही और वह शान्त, सर्वोपकारी भी था; किन्तु काला पहाड़ ने उसका शिरच्छेद किया। काली के प्रति असीम आस्था और अपनी असहायता का अनुभव लेकर वह मरा। अब भट्ट भैरव के रूप में भी वह तारा का

आराधक है। उसे सामर्थ्य प्राप्त हो गयी है। अब वह अपनी मुण्डमालिनी को नरमुण्ड अर्पित करता है।

'अपना छाग उपस्थित करो!' अकस्मात् भट्ट भैरव ने बाजार में पहुँच कर एक को एक दिन आदेश दिया।

जिसे आदेश दिया गया था, दोनों हाथ जोड़े काँपता खडा हो गया। उसके मुख से भय के कारण शब्द नहीं निकल पा रहे थे।

'भट्ट भैरव प्रतिवाद सुनने का अभ्यस्त नहीं है।' भट्ट भैरव ने गर्जना की।

'प्रभो! प्रतिवाद नहीं करता, यदि छाग होता।' वह लगभग घिघिया रहा था। उसे भय था कि कहीं छाग के स्थान पर उसी की बलि न दे दी जाय।

'तुम्हारे पास छाग नहीं है?' भैरव ने घूमकर उसे देखा। ऐसी भूल कैसे हुई? भट्ट भैरव तो अविद्यमान को उपस्थित करने का आदेश नहीं देता।

'था प्रभो!' उसने गिड़गिड़ाकर कहा - 'अभी आज ही कम्पनी की कोठी का साहब बलपूर्वक ले गया।'

'अच्छा, ये ललमुहें अब भट्ट भैरव के भाग को भी ले जाने का साहस करने लगे हैं।' मनुष्य इतना विकट अट्टहास भी कर सकता है, यह उस दिन उन लोगों ने देखा। भय के कारण आस-पास के लोग काँप उठे - 'छाग के स्थान पर भगवती ललमुहें की महाबलि माँगती है।'

उन दिनों बंगाल में कम्पनी का शासन स्थापित हो गया था। स्थान-स्थान पर कम्पनी के अंग्रेज अधिकारियों की कोठियाँ थीं। उनमें प्रत्येक अपने-आप में निरंकुश शासक था। भारतीय सिपाही उनके आज्ञापालक थे। किसी से कुछ छीन लेना, किसी के साथ कैसा भी कठोर व्यवहार करना और कुछ भी अकरणीय कर बैठना अंग्रेजों के लिए साधारण बात थी। देशी काले लोगों को उत्पीड़ित करना तो उनका विनोद था।

'किसी अंग्रेज की बलि दी जायगी!' कल्पना से बाहर की बात। 'यदि कुछ ऐसा हुआ, इस बस्ती का नाम भी बचा रहेगा?' अनेक लोग आतंक के कारण हाथ जोड़े आगे आ गये।

'उन ललमुहों की कोठी में कोई नचनिया भी है?' भट्ट भैरव ने पूछा। पता नहीं, क्यों भट्ट भैरव कभी किसी कण्ठीधारी वैष्णव को कोई आदेश नहीं देता। वह नाम-कीर्तन करनेवाले वैष्णवों को तिरस्कारपूर्वक भले 'नचनिया' कहे; किन्तु उनसे दूर रहना चाहता है।

'नहीं।' एक ने कहा - 'उन सर्वेभक्षी साहबों से वैष्णव घृणा करते हैं। कोई वैष्णव प्राण जाने के भय से भी त्राण पाने को उनकी सेवा नहीं करेगा।'

'कोई किसी ललमुहें के सम्बन्ध में कुछ पूछे तो कह देना - भट्ट भैरव जानता है।' भट्ट भैरव ने आश्वस्त होकर कहा। वहीं थोड़े सर्षप के पीले दाने लिये उसने और कुछ पढ़कर एक ओर फेंक दिये।

भयंकर समाचार - कम्पनी की कोठी का बड़ा साहब रात्रि से नहीं है। छोटे साहब गुस्से से पागल हो रहे हैं। संतरी ने उन्हें बतलाया - 'रात में बड़े साहब कोठे से अकेले निकले। वे जैसे आधी नींद से उठे हों, अपने सोने के कपडों में ही ऊँघते-जैसे चले गये। संतरी के सैल्यूट का भी उन्होंने उत्तर नहीं दिया।'

कोई अंग्रेज सोने के कपड़ों में चल दे, असम्भव बात लगती है छोटे साहब को। पूछताछ को भेजे गये सिपाही कहते हैं कि साहब भट्ट भैरव की गुफा की ओर जाते देखे गये। भट्ट भैरव के सम्बन्ध में अनेक बातें ये अन्धविश्वासी काले लोग कहते हैं। अंग्रेज ऐसी बातों से डरते तो इतने दूर देश पर शासन करने आते?

'मैं यहाँ के सब कालों को तोप से उड़वा दूंगा।' छोटे साहब ने अपने साथ गौरे सैनिक लिये। काले अन्धविश्वासी सिपाहियों पर ऐसे समय विश्वास नहीं किया जा सकता। केवल एक बंगाली ब्राह्मण साथ लिया उन्होंने। भट्ट भैरव से कुछ पूछना हो तो दुभाषिया चाहिये।

भरी बदूंक पर संगीन चढाये छोटे साहब के साथ सात गोरे सैनिक और वह ब्राह्मण भट्ट भैरव की गुफा पर पहुँचे। छोटे साहब पूरी सेना ले जाते, यदि वहाँ उपलब्ध होती; किन्तु वहाँ इतने ही गौरे सैनिक थे।

'बड़ा साहब इधर आया?' छोटे साहब ने ही अपनी टूटी-फूटी हिन्दी में पूछा - 'सच बोलना, नहीं तो तुमको शूट करेगा।'

'आया!' भट्ट भैरव गुहा से बाहर ही मिला था। उसने अट्टहास किया - 'तुम्हें क्या चाहिये, उसका सिर या शरीर?'

'समूचा साहब।' इस बार साथ आया पण्डित बोला।

'ब्राह्मण, बलि पशु समूचा नहीं बचा करता।' भट्ट भैरव ने डाँटा - 'तुम्हें छोड़ता हूँ, भाग जा।'

सचमुच ब्राह्मण भागा और भागता चला गया। उसने पीछे मुड़कर भी नहीं देखा।

हलचल मच गयी अंग्रेजों की कलकत्ता कोठी में और मद्रास में कम्पनी गवर्नर के यहाँ भी। छोटे साहब की बड़ी विचित्र रिपोर्ट पहुँची थी।

'उस भयंकर साधू ने अँगुली हिलायी। हम सब हिलने में भी असमर्थ हो गये। उसने क्या कहा, समझ में नहीं आ सकता था; किन्तु हम उसकी गुफा में ऐसे चले गये, जैसे खींच कर ले जाय गये हों। उफ्! बड़े साहब का सिर कटा पड़ा था और धड़ घसीटकर फेंक दिया गया था बाहर। यह मुझे उसी साधु ने दिखलाया। उस धड़ को जानवर और गीध नोच रहे थे।'

'मैं ठीक नहीं कह पा रहा हूँ। उस साधु ने कुछ होंठ हिला कर कहा, कोई चीज बिखेरी और पूरे सात कंकाल कहीं से आ गये। बिना चमड़े के सिर्फ हड्डी के चलते-फिरते ढांचे। उनकी आँखों के गड्ढों से लपटें निकलती थी। मैं क्यों बेहोश नहीं हो गया - आश्चर्य है मुझे।'

'इन्हें चबा लो!' साधु ने कहा और उन भूतों ने मेरे सैनिकों को शलगम के समान चबा लिया। वहाँ न खून गिरा, न हड्डी का टुकड़ा बचा।'

'तू बच गया। भाग जा!' उस साधु ने कहा। 'शायद उसके पास सात ही शैतान हैं और वह उनमें एक को दो आदमी नहीं दे सकता था। मैं वहाँ से भाग आया। भूतों से भरे इस देश से मैं पहले जहाज से लौट जाना चाहता हूँ। कम्पनी की सेवा मुझे नहीं करनी।'

अंग्रेज अधिकारी उतावली में कुछ कर बैठने के अभ्यासी होते तो भारत में इतनी बड़ी सफलता नहीं पाते। अंग्रेजों की परम्परा ही है - 'पहले पता लगाओ, पीछे कुछ करो।' अंग्रेज गवर्नर मद्रास से कलकत्ता आ गया। उसने जासूस नियुक्त किया।

जासूस ने कोठी तक आकर सबके बयान लिये। जनपद में पूछ-ताछ की और चला गया।

'हम कुछ नहीं कर सकते।' जासूस ने रिपोर्ट दे दी - 'मुझे विश्वास है कि साधु में अद्भुत शक्ति है। मैंने उसे दूर से देखा है।'

'हम उसकी गुफा और उस बस्ती को तोपों से उड़ा देंगे।' गवर्नर गुस्से से चक्कर काट रहा था।

'आपकी तोपों की मार कितनी दूर तक है?' जासूस ने ठण्डे स्वर में कहा - 'उसके शैतान सौ मील की दौड़ आसानी से लगा लेंगे। हो सकता है कि हमारी तोपें यहाँ से चलें, तभी उसे पता लग जाय।'

'उसके पास सात शैतान हैं।' गवर्नर ने गणित समझाया - 'वे सिर्फ सात आदमी एक बार खा सकते हैं।'

'झूठी बात।' जासूस बोला - 'उनमें हर एक बार में एक हजार या एक लाख खा ले सकता है। उसने सिर्फ आपको सूचना देने के लिए आपका एक आदमी जान-बूझकर छोड़ दिया।'

'ओ गॉड!' गवर्नर सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। ऊपर से सबने समझा, अंग्रेज डर गये। अंग्रेज डर तो सचमुच गये थे; किन्तु गवर्नर जानता था कि कम्पनी के डायरेक्टर उसे क्षमा नहीं करेंगे। शासन रौब से होता है। रौब गया तो इस दूर देश में अंग्रेज टिक नहीं सकते। भट्ट भैरव के समान और भी साधु होंगे। भट्ट भैरव छोड़ दिया गया तो वे रौब ही समाप्त कर देंगे।

अंग्रेजों के पास बहुत साधन थे। देशी राजा-रईस थे और उन राजा-रईसों के अपने पण्डित-पुरोहित थे। भट्ट भैरव का सामना करनेवाला कोई तो होगा। गवर्नर ने प्रयत्न प्रारम्भ किया। देशी राजाओं ने आश्वासन दिया। अन्वेषण होने लगा।

भट्ट भैरव का नाम सुनकर तन्त्रसिद्ध हाथ जोड़ते थे। अन्त में नवद्वीप के एक वृद्ध गोस्वामिपाद प्रस्तुत हुए। आश्चर्य कि उन्होंने किसी से कोई द्रव्य लेना स्वीकार नहीं किया। केवल एक अंग्रेज तरुण के साथ वे भट्ट भैरव की गुफा पर पहुँचे।

'तू क्यों आया? यह कौन?' भट्ट भैरव चिल्लाया।

'आपके योग्य यह स्वरूप नहीं है।' गोस्वामिपाद शान्त बोले - 'आप जानते हैं कि मरकर उपासक अपने देवताओं का ही परिकर होता है। आप वीर या बैताल बनना चाहेंगे?'

'तेरी शक्ति मुझसे अधिक है। मैं अनुभव करता हूँ कि मेरा पीठ शक्तिहीन हो रहा है। मेरे वीर तेरे समीप नहीं पहुँच सकते।' भट्ट भैरव अक्खड़ रहकर भी शान्त हो रहा था - 'तू क्या चाहता है? यह कौन है?'

'ये वैष्णवधर्म के जिज्ञासु हैं। इनकी चिन्ता आप छोड़ दें।' गोस्वामिपाद बोले - 'मैं चाहता हूँ, आप श्रीकृष्ण की शरण लें!'

'श्रीकृष्ण!' भट्ट भैरव कहते ही गम्भीर हो गया - 'जैसे सोते से जाग गया हो। तू यहीं खड़ा रह।'

गोस्वामिपाद भी कुछ समझ नहीं सके। भट्ट भैरव अपनी गुफा में गया। दो-क्षण पीछे गुफा से अग्नि की लपटें निकलने लगीं।

जॉन हेनरी-

अत्यन्त सीधी बात है - भट्ट भैरव उन गोस्वामिपाद के साथ आये युवक को देह-त्याग के समय भी भूल नहीं सका था। अत: भारत में उत्पन्न न होकर इंग्लैण्ड में उत्पन्न हुआ। उसी तरुण का पुत्र बना; किन्तु उसके अपने संस्कार कहाँ जाते? बचपन से ही उसे भारत देखने की धुन चढ़ी।

उस समय किसी अंग्रेज के लिए भारत आना कठिन नहीं था। कठिन यह था कि जॉन हेनरी कोई नौकरी स्वीकार नहीं करना चाहता था। वह स्वतन्त्र अध्ययन करने आना चाहता था।

भारत में कम्पनी का शासन समाप्त हो गया। यहाँ का प्रथम स्वाधीनता-संग्राम विफल हो गया। संघर्ष के संचालक और सिपाही कुचल दिये गये। गोलियों से उड़ा दिये गये या फांसी पर लटका दिये गये। यह सब हुआ भारतीयों के ही द्वारा। मुट्ठी भर अंग्रेज क्या कर लेते? लेकिन देशी राज्य और नमकहलाल बनने का मिथ्याभिमान भारतीयों के द्वारा भाइयों को ही मारने का अस्त्र बना।

दिल्ली-दरबार का आयोजन हुआ तो जॉन हेनरी को भी आने का अवसर मिल गया। जॉन यहाँ से लौट जाने तो आया नहीं था, संस्कृत सीखने में लग गया। वह यहाँ के अंग्रेज अधिकारियों का सजातीय था। सब प्रकार की सुविधा उसे सुलभ हुई। संस्कृत सीखने में और भी अंग्रेज लग गये थे। जॉन को उनका भी सहयोग मिला।

भाषा तो जॉन शीघ्र सीख गया। वह संस्कृत और हिन्दी भी बोलने लगा; किन्तु उसे साधना करने की धुन चढ़ गयी। वह भारतीय साधुओं के पास भटकने लगा।

जॉन को तान्त्रिक 0बहुत मिले, बहुत चमत्कारी; किन्तु चमत्कारों में अन्य यूरोपियों के विपरीत उसकी आस्था नहीं थी। वह कह देता था - 'यह बहुत छोटी वस्तु है।'

उसने योग तथा दर्शन का अध्ययन किया था। उसे धोखा नहीं दिया जा सकता था। दूसरी ओर उसका पूर्व-संस्कार-भावित अन्त:करण कहता था - 'उपासना बड़ी है। वैष्णव-उपासना महान है।' उसने इस दिशा में जितना अध्ययन किया, उसकी धारणा दृढ होती गयी।

जॉन हेनरी को अंग्रेज अधिकारी 'पागल' भले कहते थे; किन्तु वे कंगाल रहे, यह उनको अपना जातीय अपमान लगता था। तत्कालीन वायसराय ने नीचे के अंग्रेज बड़े अधिकारियों को निजी पत्र भेज दिये थे कि वे हेनरी का ध्यान रखें। उसे असुविधा न हो। देशी अधिकारियों के लिये तो उस समय अंग्रेज मात्र स्वामी था। हेनरी को सुख-सुविधा जुटाकर वे अपने को धन्य मानते थे। अत: हेनरी को कभी आर्थिक अभाव नहीं हुआ।

बड़ी कठिनाई हुई साधना को लेकर। कोई अच्छा साधु उसे शिष्य बनाना स्वीकार ही नहीं करता था। उसे तान्त्रिक दीक्षा लेनी नहीं थी। श्रीशंकराचार्य का निर्गुण-तत्त्व उसकी समझ में नहीं आता था और जो उपासक साधु थे, पूछते थे - 'तुम किस कुल के हो? तुम्हारी श्रद्धा किसमें है?'

जॉन यह जानता था कि ईसाई-पादरी, चाहे कैथोलिक हों या, प्रोस्टेटैण्ट, सबको अपने सम्प्रदाय की दीक्षा दे देते थे। किसी मुसलमान मौलवी को भी किसी को कलमा पढ़ाने में कठिनाई नहीं। भारत में ही अनेक ऐसे सम्प्रदाय हैं, जो शीघ्र दीक्षा दे देते हैं; किन्तु ये उपासक साधु तो अद्भुत ही हैं।

हेनरी मुग्ध था इस तथ्य पर कि उपासकों का आराध्य जो उसे मानो, बन जाता है। ऐसा आश्वासन तो दूसरा कोई दे नहीं सकता।

बहुत पूछताछ पर एक बड़े विद्वान ने उसे बतलाया - 'आप जिस उपासना-कुल के होंगे, केवल उसी का आचार्य आपको दीक्षा दे सकेगा।'

'उपासना-कुल! इंग्लैण्ड में ऐसा कुछ नहीं है।' जॉन हैरानी से बोला।

'मेरा तात्पर्य आपके पूर्वजन्मों के उपासना-संस्कारों से है?' पण्डित ने स्पष्ट किया।

'इसका पता कैसे लगेगा?' यही तो समस्या थी; किन्तु जहाँ चाह है, वहाँ राह निकल ही आती है। जॉन हेनरी को एक वृद्ध संत मिल गये। उन्होंने कुछ देर ध्यान करके बड़े स्नेह से उसे समझाया - 'वत्स! तुम्हारी पूर्व निष्ठा बहुत स्पष्ट नहीं है। तुमने स्वयं उसे मिटा दिया है। अब तुम एक काम करो। तीर्थयात्रा कर आओ। काञ्ची और श्रीरंगम् जाओ। वाराणसी, अयोध्या, मथुरा

हो आओ। देखो कि कौस-सा स्थान और कौन-सा आराध्य तुम्हें अधिक आकर्षित करता है।'

जॉन ने यह आदेश स्वीकार किया। समय लगा, श्रम हुआ; किन्तु भारत-भ्रमण हो गया। वह अपनी ओर से अनेक स्थानों में हो आया। आश्चर्य यह कि इससे उसकी समस्या और उलझ गयी।

'मुझे काञ्ची में दोनों स्थान प्रिय लगे। एकाम्रेश्वर और वरदराज दोनों। श्रीरंग में भी यही हुआ। श्रीरंग और जम्बुकेश्वर-दोनों में आकर्षण लगा।' जॉन तीर्थयात्रा से लौटकर उन वृद्ध संत को सुनाने लगा - 'वाराणसी पहुँचकर मुझे लगा, विश्वनाथ और अन्नपूर्णा मेरे अपने माता-पिता हैं। ऐसा अनुभव दक्षिण भारत में ठीक नहीं हुआ था। लेकिन ठीक यही अवस्था मेरी अयोध्या पहुँचकर हुई और मथुरा में लगा कि मैं यहीं का हूँ।'

संत गम्भीर हो गये। उन्होंने फिर ध्यान किया और अन्त में उसे नामजप का आदेश दे दिया।

जॉन हेनरी नामजप में लगा। वह भारत में आकर अब तक वृद्धप्राय हो चुका था। इतने समय में उसने साधु-संग, तीर्थयात्रा व

शास्त्राध्ययन ही किया था। उसे नामजप ने बहुत शीघ्र संतुष्ट कर दिया।

'कितनी सीधी बात; अल्पज्ञ, अल्पप्राण जीव का अहंकार ही तो है कि वह कुछ करेगा, कुछ बनेगा। हेनरी प्राय: स्वयं-से ही कहता था - 'कृष्ण तो दयामय है। उस पर छोड़ दो। वह जो बनावे, बनने को प्रस्तुत रहो! कुछ करना ही हो तो उसका नाम लो! उसका स्मरण करो! वह पर कहाँ है। वह तो अपना है।'

जॉन हेनरी भारत आने से पूर्व ही निरामिषभोजी हो गया था। यहाँ आकर तो वह अंग्रेज अधिकारियों का अतिथि होने पर ही काँटा-चम्मच काम में लेता था। पीछे तो वह इसे भी छोड़ चुका था। अन्त में गंगा-किनारे उसे महीनों तक अकेले भटकते देखा गया।

बड़ी कठिनाई हुई जिलाधीश को। ऊपर से आदेश था कि 'हेनरी की देख-रेख की जाय; किन्तु उसे कष्ट न हो। उसकी इच्छा के विपरीत उसे तंग न किया जाय।' ऐसे में एक दिन बुरा समाचार मिला। छानबीन करके उन्हें रिपोर्ट भेजनी पड़ी -

'कई सप्ताह से जॉन हेनरी पागल हो गये थे। वे किसी भी आदमी को देखते ही भाग खड़े होते थे। गंगा के किनारे अकेले बैठे रहते थे। उन्हें तकलीफ न हो इसलिये उनकी निगरानी पर रखे सिपाहियों को उनसे दूर रहना पड़ता था।'

'सिपाहियों से थोड़ी गलती हुई लगती है पर वे भी विवश थे। हेनरी तेज धूप में जा बैठे थे। सिपाहियों को बहुत दूर पेड़ की छाया में बैठना पड़ा। हो सकता है कि सिपाही वहाँ सो गये हों या कहीं खाने-पीने थोड़ी देर को चले गये हों; लेकिन वे इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं।'

'सिपाहियों को पता नहीं कि हेनरी कब मर गये। उधर के गाँव के लोग उसको 'साहब बाबा' कहने लगे थे। शायद चरवाहों ने हेनरी को मरा देखा। ये गाँव के अशिक्षित लोग कुछ जानते नहीं। वे चरवाहे तो दस-बारह वर्ष के लड़के बतलाये जाते हैं। उन सबों ने लकड़ियाँ इकट्ठी की और चिता बनाकर हेनरी साहब का मुर्दा उसमें फूँक दिया। सिपाही जब तक पहुँचे लाश जल चुकी थी।'

'सिपाही देर से पहुँचे, यह सत्य है। नदी-किनारे गाँव के लोग मुर्दे जलाते ही रहते हैं। सिपाहियों ने सोचा, ऐसा ही कोई मुर्दा

जलाया जा रहा है। सबसे हैरानी की बात है कि उन जलाने वाले लड़कों में किसी का पता नहीं लग रहा है। शायद डर के कारण गाँव के लोग कुछ नहीं बतला रहे हैं। मैं स्वयं वहाँ जा रहा हूँ।'

जिलाधीश आये। पुलिस के बड़े अधिकारी आये। गाँव के लोग डराये-धमकाये गये; किन्तु पता एक भी लड़के का नहीं लगा। शायद जिलाधीश अधिक तंग करते गाँव के लोगों को, परन्तु ऊपर से आदेश आ गया - 'छान-बीन बंद कर दी जाय।'

पागल हेनरी मर गया तो उसके शव का क्या हुआ, इसकी अधिक चिन्ता अंग्रेज अधिकारी को अनावश्यक लगी। जॉन हेनरी इंग्लैण्ड में कोई महत्वपूर्ण व्यक्ति नहीं था।

मुनीन्द्र-

अपरिचित है आपका मुनीन्द्र; किन्तु आप पहचान सकते हैं, यदि कह दिया जाय कि वस्तुतः यह भद्र है - भद्रसेन। सुभद्र, वृश्चिक, वनराज, दुर्दम, चण्डी-पुजारी, भट्ट भैरव और जॉन हेनरी के क्रम से जन्म धारण करता वह मुनीन्द्र बन गया है।

आप अपरिचित भी रहें तो कुछ नहीं बिगड़ता, न उसका, न आपका। वह कोई विशिष्ट व्यक्ति है भी नहीं। वह संसार में कोई बड़ा कार्य करने नहीं आया, केवल कुछ स्वजनों को समेटने आया है। वह न आचार्य, न कारक पुरुष, न सिद्ध। उसमें संसार क्यों रूचि ले?

सुभद्र से ही एक परम्परा प्रारम्भ हो गयी। माता-पिता की सेवा या उनका सुख किसी जन्म में नहीं मिला। मुनीन्द्र को मिल जाता तो परम्परा टूटती; किन्तु टूटी नहीं। उसको तो कोई कुटुम्बी नहीं मिला।

कभी-कभी किसी के मन में कोई साधारण बात भी जमकर बैठ जाती है। न यह बात सदा होती, न सबके सम्बन्ध में होती। वृक्ष से टपककर गिरता फल सब देखते हैं; किन्तु इसे देखकर

न्यूटन कौन बन पाता है? मुनीन्द्र ने किसी साधु से किसी प्रसंग में सुन लिया - 'जिसका कोई नहीं होता, भगवान् होता है।'

बात गहरे जाकर जम गयी। मुनीन्द्र कहने-मानने लगा - 'मेरा कोई नहीं है, अत: कन्हाई मेरा है।' आप कह सकते हैं कि यह मान्यता मिथ्या है या कृष्ण इसे अस्वीकार ही कर देगा?

मुनीन्द्र के सम्बन्ध में यह बात अच्छी ही हुई; ऐसा भी नहीं है। इसका कुपरिणाम भी हुआ। स्वभाव से क्रोधी और अत्यन्त उतावला मुनीन्द्र अनुत्तरदायी बन गया। सावधानी अनावश्यक लगने लगी। भय स्वभाव से किसी जन्म में नहीं था तो अब कहाँ से आता; किन्तु अपने क्रोध की भी उपेक्षा करने लगा।

कुतूहली स्वभाव जन्मों की परम्परा से प्राप्त हुआ; लेकिन श्रम करना स्वीकार नहीं हुआ; क्योंकि - 'कन्हाई करेगा' यह आधार बन गया, भले आप इसे कितना भी कोसें और अनुचित मानें।

साधन के क्षेत्र में भी कुतूहल काम करता है, यह सुना नहीं गया। स्वयं श्रीकृष्ण ने गीता में अभ्यास और वैराग्य को अनिवार्य

बतलाया। महर्षि पतञ्जलि अभ्यास के लिये आवश्यक मानते हैं - 'दीर्घकाल नैरन्तर्ष सत्कारासेवित।'

मुनीन्द्र कहता है और उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि अपने कथन का प्रचार करके उसने पूजा प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वह अद्भुत बातें कहता है। उसका कहना है - 'साधन भी कन्हाई को आवश्यक लगना चाहिये। उसे आवश्यक न लगे ऐसा साधन किया क्यों जाय? उसे आवश्यक लगे तो करा ले अथवा स्वयं करे।'

मुनीन्द्र महोदय भटकते न हों, ऐसा नहीं है। भरपूर भटकते हैं - भटकते रहे हैं; किन्तु भयभीत न होने की जैसे शपथ ही खाली हो। उनकी खोपड़ी में कब, कौन-सा उपाय आविर्भूत होगा, कहा नहीं जा सकता।

बात तब की है, जब वनवासियों तक शहरी-सभ्यता की गन्ध भी नहीं पहुँची थी। चित्रकूट के जंगल में मुनीन्द्र चल पड़ा बिना किसी लक्ष्य के। ऐसे वन में भटकनेवाला भूल जाय, यह बनी-बनायी बात है। प्यास लगी और पानी का पता नहीं। बढ़ते जाने के अतिरिक्त उपाय नहीं; क्योंकि पीछे तो पानी बहुत दूर छूट चुका था।

सँकरा पहाड़ी मार्ग। एक ओर आकर दो वनवासी कुल्हाडियाँ लिए खड़े हो गये। वे वहाँ किसी को काट दें तो उनका कुछ बिगड़ेगा? कितनी ही हत्याएँ इस प्रकार वनों में होती रहती हैं। पेड़ों को काटने के अभ्यस्त हाथ अवसर मिलने पर कुछ साधारण वस्त्र तथा थोड़े पैसों के लोभ से भी मनुष्य का कण्ठ काट देते हैं। प्रमाण के अभाव में पुलिस क्या करे?

मुनीन्द्र के वस्त्र स्वच्छ और हाथ में झोला। वनवासी कैसे समझें कि कोरा ठनठनपाल है? आप ऐसी परिस्थिति में पड़ जायें (भगवान करे, कभी न पड़े) क्या करेंगे? पीछे लौटकर भागना व्यर्थ; क्योंकि वनवासियों से अधिक वेग आवश्यक होगा। दोनों ओर सघन कँटीली झाड़ियाँ। वनवासियों के समीप होकर - सटकर ही आगे बढ़ने का एकमात्र मार्ग।

मुनीन्द्र महाशय न भागे, न हिचके। वे साधारण गति से चलते गये। वनवासियों को जैसे उन्होंने देखा ही न हो। जब चार पद दूर रह गये, झोले में हाथ डालकर टॉर्च निकाल ली और वनवासियों की ओर तानकर जला दी। जैसे टॉर्च न होकर कोई मशीनगन हो। उन बेचारों ने काहे को कभी टॉर्च देखी होगी। वे घबराकर भागे और कहीं कानन में अदृश्य हो गये।

वे तो वनवासी थे; किन्तु चित्रकूट के वन में बाघ और तेंदुए भी तब थे। उनमें-से भी कोई मार्ग में मिल जाता तो शायद मुनीन्द्र ऐसा ही कुछ करता; क्योंकि उसके झोले में टॉर्च के अतिरिक्त केवल कपड़ा था। कोई हिंस्र पशु मिला नहीं। मिल जाता तो पता नहीं, वह वनवासियों के समान भागता या मुनीन्द्र का भोग लगा लेता। लेकिन मुनीन्द्र कहता है - 'कन्हाई आता है कुछ भी बनकर आवे और वह इतना भोला है कि रूप कोई बना ले, उसे भागना ही हो तो केवल अंगुली कड़ी करके हिलाना भी पर्याप्त हैं।'

'जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई।।'
-मानस 1।224।7

मुझे मानस की यह अर्धाली स्मरण आ रही है; किन्तु भला आदमी भजन भी तो करता हो? इसे तो केवल भोजन करना आता है और अपने ऊट-पटांग कुतूहलों में उलझे रहना।

'मुझे किन्हीं को ढूँढना है। प्रयत्न कर रहा हूँ।' चाहे जिसे चिढ़ा देगा या छेड़ देगा और कोई बिगड़े तो कहेगा - 'बिगड़नेवाला स्वयं ही तो बिगड़ता है। मेरा क्या कि मैं चिन्ता करूँ। मेरा बिगड़ना-बनना कन्हाई के हाथ में सुरक्षित है। वह

नटखट बतलाता नहीं तो मैं उनकी खोज अपने ही ढंग से तो करूँगा। इसमें भूल की बहुत सम्भावना है। बहुतों को असंतुष्ट होना है; किन्तु मैं भी तो विवश हूँ।'

'नंगा खुदा से चंगा' आपने सुना है यह? मैने तो एक कथा भी सुनी है। कभी शनैश्चर को सनक चढ़ी। ये सूर्य-सुत स्वयं पिता का संकोच नहीं करते तो दूसरे का क्या करेंगे। अतः पहुँच गये काशी। भगवान सदाशिव से हाथ जोड़कर बोले - 'प्रभो! आपके तृतीय नेत्र के समान ही मेरी दृष्टि भी है। अत: आप उसे खोलेंगे तो संघर्ष उत्पन्न होगा। सम्भव है, सृष्टि ही समाप्त हो जाय।'

'वत्स! अभी प्रलयकाल नहीं आया; लेकिन तुम क्यों आये हो?' आशुतोष ने पूछा।

'आप यहाँ पृथ्वी पर वाराणसी में विराजमान हैं।' शनैश्चर के स्वर में अकड़ थी-'पृथ्वीपर रहनेवालों पर मैं साढ़े सात वर्ष शासन करता हूँ।'

'उत्तम बात है।' भोलेबाबा बोले - 'उमा को पितृगृह छोड़े बहुत दिन हो गये। वे नन्दी पर आरूढ़ जायेंगी। हिमालय में उसे

भी हरित तृण सुलभ होंगे। मैं समाधि में बैठता हूँ; तुम अपना शासन चलाओ।'

'जो मैं कर सकता हूँ, आप स्वयं वह करने जा रहे हैं।' शनैश्चर की हेकड़ी हवा हो गयी। हाथ जोड़कर गिड़गिड़ाये -'इससे अधिक कुछ मैं कर भी क्या सकता हूँ, आप मुझे क्षमा करें!'

मुनीन्द्र महोदय भी लगभग ऐसे ही हैं। इनके समीप धरा क्या है कि कोई कुछ बिगाड़ेगा। एक दिन एक ज्योतिषी से ही भिड़ गये -'पण्डित जी! यह मीन-मेष ही निकालते रहोगे या मधुसूदन का भी कुछ पता है?'

'भैया! कौन-से मधुसूदन?' पण्डितजी ने अपना पञ्चांग समेटते हुए कहा - 'सेठ मधुसूदनमल ने मुझे इससे पहले तो कभी स्मरण नही किया।'

'सेठ को सोंठ बनने दीजिये।' मुनीन्द्र अपनी झक में थे - 'आपके नवग्रहों की बात करता हूँ। कन्हाई के श्वसुर हैं आपके सूर्यनारायण और शनैश्चर सगा साला है।'

'सो तो हैं।' पण्डितजी को इस चर्चा का सिर-पैर कुछ पता नहीं लगता था। उन्होंने समर्थन कर दिया - 'मंगल भी भू-पुत्र होने से उनका पुत्र ही है। उन रमाकान्त का श्यालक ही शशि होता है और बुध श्यालक-पुत्र।'

'तब आप राहु-केतु को लेकर चाहिये।' पता नहीं क्यों मुनीन्द्र आज पण्डितजी के पीछे पड़ गया - 'बृहस्पति-शुक्र शान्त स्वयं हैं। भले आपके सजातीय हों, कोई कदाचित् ही आपसे उनकी शान्ति करावे।'

'छी:-छी:! ब्राह्मण को चाटने के लिए असुर-ग्रह ही बचे हैं।' पण्डितजी ने मुँह बनाया - 'ये भी उन चक्रपाणि के चिन्तन से चिन्तित ही रहते हैं। उन्होंने इन्हें चक्र से काट फैंका था। हम तो उनके आश्रय पर पलते हैं, जो उन सर्वेश्वर को छोड़कर भटक रहे हैं।'

'पण्डितजी, प्रणाम! मुनीन्द्र प्रसन्न हो गया - 'मेरा अपराध, अविनय क्षमा कर दें।'

'अपराध कैसा भैया!' पण्डित सरल थे, निष्ठावान् थे - 'आप सत्य ही तो कह रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्र के चरणाश्रित को ग्रहों की चिन्ता करने की कभी आवश्यकता नहीं होती।'

'कन्हाई ने अध, अरिष्ट, नरक - सब द्वापर में ही मार दिये। मुनीन्द्र कहता है - 'बेचारे ग्रह तो सगे-सम्बन्धी हैं, अंगूठा तो दिखा दिया उसने सुरपति और सृष्टिकर्ता को भी।'

'यह सब सत्य होने पर भी आपको इससे लाभ?' कृपा करके आप इस प्रकार कभी मुनीन्द्र मिल ही जाय तो उससे उलझने का साहस न करें। वह बहुत अक्खड़ है। जो सुरों की ही गणना नहीं करता, वह पता नहीं, आपको क्या कह दे।

'कन्हाई मेरा है। आवश्यक होगा तो वह सहस्त्रबार वह सब पुनः करेगा, जो उसने कभी किया था।' आप किसी के ऐसे विश्वास को झुठला नहीं सकते।

'मुझे कुछ स्वजनों को समेटना है।' मुनीन्द्र अब कहता है - 'कुछ को तो कन्हाई ने मेरा सम्पर्क सुलभ कर दिया है, शेष की चिन्ता वह स्वयं कर लेगा।'

कौन पूछे - 'जब कन्हाई को ही यह सम्पर्क भी सुलभ करना है तो आपका अन्वेषण क्या अर्थ रखता है? आपकी विशेषता कहाँ बचती है।'

कोई पूछ ही ले तो मुनीन्द्र क्या कहेगा, आपको बता दूँ? कहेगा - 'तू बुद्धू हैं। इतना भी नहीं जानता कि तत्त्व तो निर्विशेष है, विशेषता सब कन्हाई से ही आती है।'

स्वप्न-सूचना-

असाधारण झक अनेक बार मुनीन्द्र को चढ़ी है। जो केवल कुतूहल के लिए काम करता रहा है, उसे कोई झक चढे तो आश्चर्य की बात तो है नहीं। अरण्य में रहता है - अद्भुत झक। अब जैसे जनपद काटते हों। सबने-सब परिचित सुहृदों ने समझा लिया; किन्तु अपने ही मन की करनी है।

झक चढ़ी भी और समाप्त भी हो गयी। कैसे समाप्त हुई? केवल एक स्वप्न देखकर। सबके समझाने से जो बात समझ में नहीं आयी, वह स्वप्न ने समझा दी। ऐसा सशक्त स्वप्न।

सुरसरि को तैर कर पार किया। तीव्र प्रवाह था; किन्तु पाट कम चौड़ा था। थोड़ा ही बहकर किनारे लग गये। कुछ मील पैदल चलकर पुल से भी पार हो सकते थे; किन्तु यह झगड़ा कौन करे।

वस्त्र दूसरे थे नहीं। आधी धोती निचोड़कर पहनी और आधी सुखा ली। अभी अरण्य का आरम्भ भी नहीं हुआ था, पुलिन पार करके कगार पहुँचे थे कि वन के हाथियों का दल आ गया। यूथप सूंड उठाकर वायु सूंघता सीधे सामने आया।

भागकर प्राण-बचाने की वृत्ति होती तो वन में आता ही क्यों। स्थिर खड़ा रहा। यूथप समीप आ गया, तब बोला - 'गजेन्द्र! क्या बात है?'

यूथप ने सूँड उठाकर सिर से लगाकर शब्द किया। लगा कि स्वागत कर रहा है। उसने सूँड से पैर छू लिये। वह तो सूंड मोड़कर संकेत करता रहा; किन्तु देर लगी उसका संकेत समझने में। जब समझ में आया, उसकी मुड़ी सूँड पर पैर रखकर खड़ा हो गया। हाथी ने सूँड उठा दी; अतः उसके कान पकड़कर वह गर्दन के पास पीठ पर जा बैठा। हाथी ऐसा झूमा, मानो उसे बड़ा पुरस्कार मिला हो।

हाथी उसे लेकर मुड़ पड़ा। उसके साथ पीछे दूसरे हाथी भी लग चले। वैसे तो वह गज स्वयं वृक्षों की शाखाएं बचाता जा रहा था; किन्तु मुनीन्द्र को भी बहुत सावधान रहना पड़ा। गज की पीठ पर प्रायः झुक कर चिपके ही रहना पड़ा। ऐसा न करता तो आहत हो जाता। हाथी यह अनुमान नहीं कर सकता था कि मुनीन्द्र के पीठ पर बैठने से उसको कितनी ऊँची शाखाओं के नीचे से निकलना चाहिये।

यह यात्रा पूरी हुई। पर्वत के ठीक पद-प्रान्त में एक शिला से सटकर गज खड़ा हो गया। उसने सूँड उठायी। मुनीन्द्र समझ गया। हाथी का कान पकड़ कर, सूँड पर पहुँचा और शिला पर उतर गया। 'यहाँ क्यों ले आये?' हाथी से पूछे, इससे पहले ही हाथी मुड़कर चल पड़ा। दूसरे गज भी साथ चले गये। लगा कि सब प्यासे ही चले आये थे; अब पानी पीने जा रहे हैं।

मुनीन्द्र हाथियों को देख रहा था। उसके पीछे से भालू के भलभलाने का शब्द आया। मत पूछिये कि भालू किधर से आ गया? वह तो अरण्य था, वैसे भी स्वप्न में सब सम्भव होता है।

मुनीन्द्र ने मुड़कर देखा। उस शिला से पीठ सटाये बहुत बड़ा भालू भलभला रहा था। इस बार संकेत समझने में कठिनाई नहीं हुई। शिला से भालू की पीठ पर आ गया। वहाँ भी उसके बाल पकड़कर संभालकर बैठना पड़ा; क्योंकि वह सीधे पहाड़ पर चढ़ता जा रहा था।

भालू उसे लिये पहाड़ के शिखर तक चढ गया। कई मील ऊपर-ही-ऊपर चलता रहा। अन्त में दूसरी ओर उतरने लगा। मन प्रसन्न हो उठा पर्वतों से घिरी उस सुरम्य घाटी को देखकर। हरे-

भरे वृक्षों के मध्य कदली-कुञ्जों से घिरी स्फटिक-स्वच्छ जल से परिपूर्ण झील थी। वृक्षों में पक्व फल लदे थे।

भालू ने झील के किनारे उतारा। वह स्वयं झुककर जल पीने लगा। सरिता तैरने में मुनीन्द्र का स्नान हो ही गया था, किन्तु यहाँ उसने चुल्लू में जल लेकर मुख धोया। जल पीता रहा। उसने नहीं देखा कि उसे लानेवाला भालू कब, किस ओर चला गया।

अचानक पास के पर्वत-मध्य से एक श्वेत जटा-श्मश्रु मुनि उतरते दीखे। इतने वृद्ध कि उनके रोम तक श्वेत हो चुके थे। खड़ाऊँ खटकाते वे मुनीन्द्र के समीप आ गये तो मुनीन्द्र ने उन्हें भूमि पर मस्तक रखकर प्रणाम किया।

'वत्स! वहाँ गुहा में तुम्हारी प्रतीक्षा हो रही है।' आशीर्वाद देकर वे बोल - 'तुम्हें स्वयं फल तोड़ने का श्रम नहीं करना है। मैं तुम्हारा मार्ग देखता ही अब तक यहाँ रुका था। अब मैं आगे जा रहा हूँ। तुम गुफा में जाओ! वहाँ तुम्हारे आहार की व्यवस्था है। तुम यहाँ चाहे जब तक रहो, कोई कष्ट नहीं होगा।'

मुनि तो चले गये। मुनीन्द्र गुफा की ओर चला। बहुत चढ़ायी नहीं थी। गुफा-द्वार पर पहुँचते ही दो परिचित मधुर कण्ठों ने स्वागत किया - 'आइये!'

मुनीन्द्र चौंक गया। वह द्वार पर खड़ा देखता रह गया। उसने पूछा - 'तुम दोनों यहाँ?'

'हमें देवर सवेरे ही पहुंचा गये हैं।' दुबली और छोटी कायावाली ह्रस्वा उत्फुल्ल होकर कहने लगी - 'देवर कहते थे कि आप अरण्य में आ रहे हैं। आपकी सेवा में भी तो कोई रहनी चाहिये।'

यह ह्रस्वा स्वभाव से भी बालिका ही रहती है। इसे कन्हाई ठीक ही 'खिलौना भाभी' कहता है। ताम्रा के साथ ही लगी रहती है। ताम्रा भी इसे अनुजा के समान स्नेह करती - सँभालती है।

ह्रस्वा और ताम्रा ने उसकी चरण-वन्दना कर ली थी। ताम्रा ने आसन लगा रखा था। वह पत्ते डाल चुकी थी और उस पर व्यञ्जन सजाने में लग गयी थी।

'देवर हमें पहुँचाकर फिर आये थे। वे यह सब धर गये हैं।' ह्रस्वा ने बतलाया - 'कह गये हैं कि प्रतिदिन वे स्वयं सब आवश्यक सामग्री पहुँचा दिया करेंगे।'

अचानक मुनीन्द्र की निद्रा टूट गयी। उसके उठने का समय हो गया था; लेकिन जागकर भी वह चौंका ही। वह रात में कौपीन लुंगी लगाकर सोया था; उसके शरीर पर इस समय धोती क्यों है? सम्भवतः उसे सोते-सोते चल देने और कुछ करने का रोग हो गया है। नींद में उठकर ही उसने धोती पहनी होगी। दूसरा कोई समाधान सम्भव नहीं है।

उठकर मुनीन्द्र ने अपना नित्यक्रम सम्पन्न किया। स्नान किया। करता सब रहा; किन्तु बहुत गम्भीर हो गया। उसका मन उससे कहने लगा - 'अरण्य में जाकर दो-दो पत्नियों की गृहस्थी बसाने से इसी प्रकार यहाँ रहना अच्छा नहीं है?'

'कन्हाई कितना सुकुमार है। वह क्या सेवा लेने योग्य है? मन और भी बहुत कुछ कहता रहा - 'वह हठी कितना है। अरण्य में रहोगे तो वह सेवा किये बिना मानेगा? वह तो प्रलय-प्रयन्त सेवा करता रह सकता है।'

मन का स्वभाव है कि कुछ कहने लगता है तो बातूनी बच्चे के समान बोलता ही चला जाता है। मुनीन्द्र का मन उस दिन वाचाल बन गया था। वह बोलता ही चला गया। पता नहीं, कितनी बातें कह डाली उसने।

मुनीन्द्र हार गया। कहना कठिन है कि अपने मन से हार गया या अपने कन्हाई से; किन्तु उसकी अरण्य में जाने की झक मिट गयी। फिर उसने किसी से भी अरण्य में जाने की कभी चर्चा नहीं की।

मुनीन्द्र ने स्वप्न में देखे उस सुरम्य स्थल को भी ढूंढने का प्रयत्न नहीं किया। आप जानते हैं कि स्वप्न में देखे स्थल और पदार्थ जागकर ढूँढना पागलपन होता है। मुनीन्द्र पागल बनना पसंद नहीं करता।

'कन्हाई बहुत नटखट है। उसने मुझे स्वप्न में दिखा दिया कि मैं अरण्य में जाऊँ तो वह क्या करनेवाला है।' मुनीन्द्र मानता है कि यदि वह अपनी झकपर अड़ा रहा तो स्वप्न के सत्य होने में संदेह करना बुद्धिमानी नहीं होगी।

'कहीं नहीं होगी वह झील। पर्वत की क्रोड़ी में भी उतने पक्व फल हों तो वन-विभाग पता लगाकर पहुँच जायेगा।' मुनीन्द्र यह समझकर भी कहता है - 'कन्हाई कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों को बनाने-बिगाड़ने की क्रीड़ा करता ही रहता है। मन करेगा तो उसे एक झील और सुरम्य घाटी प्रकट करने में कोई दो-चार दिन लगने हैं? वह उसे अनन्तकाल तक बनाये रख सकता है और वनवासी तथा वन-विभाग से बचाये भी रह सकता है।'

मुनीन्द्र के तर्क भले ठीक हों या न हों, उसकी झक अवश्य समाप्त हो गयी है।

मुनीन्द्र मर गया-

अपने को अमृतपुत्र माननेवाला मुनीन्द्र मर गया; लेकिन शरीर तो किसी का अमर भी हुआ नहीं करता। शरीर मरणधर्मा है। उसे मरना था - मर गया। मुनीन्द्र शरीर का नाम था, इसलिये मुनीन्द्र मर गया। मुनीन्द्र ने तो कभी अपने को शरीर माना नहीं था। वह अपना नाम भी मुनीन्द्र स्वीकार नहीं करता था। कहता था - 'मुनीन्द्र तो मात्र संज्ञा है संसार का व्यवहार चलाने के लिए।' वह व्यवहार शरीर के साथ समाप्त हो गया तो निष्प्रयोजन होने से संज्ञा समाप्त हो गयी। इसलिये ठीक ही है - मुनीन्द्र मर गया।

मुनीन्द्र मर गया? अमृतपुत्र मुनीन्द्र मर भी सकता था? हम-आप अमृतपुत्र ही तो हैं। आपने कभी अपने मरण का अनुभव किया है? स्वप्न में किया भी हो तो अपने शरीर के मरने का अनुभव किया होगा। आप ही मर गये होते तो अनुभव कौन करता? आप मरा नहीं करते। आप तो अमृतपुत्र हैं।

शरीर मरा करता है। शरीर की संज्ञा-नाम होता है। वह संज्ञा मरती है। मुनीन्द्र मर गया - मुनीन्द्र का शरीर मरा, संज्ञा मुनीन्द्र मरी; किन्तु मुनीन्द्र में जो अविनाशी अमृतपुत्र था? वह तो कभी

था - भूत होता ही नहीं। वह तो सदा है, वर्तमान ही रहता है। मुनीन्द्र मर गया - अमृतपुत्र तो है ही, वह कभी मरता नहीं।

मुनीन्द्र मर गया। मरने के लिए वह बहुत उत्सुक था। आपको विचित्र लगता है? मरने के लिए उत्सुक - ऐसा भी कोई होता है? मुनीन्द्र विचित्र ही था। सबसे पृथक-सबसे विचित्र।

'जब प्राणी पृथ्वी पर आने का अपना प्रयोजन पूरा कर लेता है, वह मर क्यों नहीं सकता?' यह मेरी नहीं, मुनीन्द्र की बात है। वह झल्लाता था - 'सृष्टि की यह क्या विवशता है कि प्राणी प्रयोजन पूरा करके भी पड़ा रहे।'

'मेरा प्रयोजन तो पूरा हो गया।' यह मुनीन्द्र की मान्यता थी। आवश्यक तो नहीं कि सृष्टि का संचालक उससे सहमत ही होता; लेकिन वह कहता था - 'मैं जिनको समेटने आया था, उनका सम्पर्क कन्हाई ने सुलभ कर दिया। उसे जो कुछ कराना था - वह भी हो गया। अब कोई शेष भी होंगे तो वह स्वयं संभाल लगा। अब तो मेरी कोई आवश्कता नहीं है।'

मुनीन्द्र यहीं भूल करता था। सृष्टि-संचालक को तो प्राणी का शरीर सड़ाने की भी कभी-कभी आवश्यकता होती है। खमीर

उठाना हो तो आटे को सड़ाना पड़ता है। सृष्टि-संचालक को प्राणों में खमीर उठाना पड़ता होगा। वह प्राणी का शरीर सड़ाता ही क्यों, यदि कोई परिणाम उसे प्राप्त न करना होता।

एक महात्मा का कहना था - भगवान् मंगलमय हैं। उनका प्रत्येक विधान मंगलप्रद ही होता है।'

मुनीन्द्र मर गया - मंगल हुआ, अच्छा हुआ। यह सत्य ही होगा, ऐसी आस्था तो की जा सकती है; किन्तु बात अटपटी है। क्या अच्छा हुआ? मुनीन्द्र तो किसी का कुछ बिगाड़ नहीं रहा था। वह किसी पर भार नहीं था।

'मोटा होना बुरी बात है।' मुनीन्द्र अटपटी बातें करने का अभ्यासी था। कहता था - 'मरने पर उठानेवाले कोसते हैं।'

यह भी कोई बात हुई? लेकिन वह अपने शरीर के मोटापे के विरुद्ध हाथ धोकर पड़ा रहता था।

'मरना चाहिये श्मशान में या सरिता के किनारे।' जैसे यह भी आदमी के अपने वश की बात हो। लेकिन मुनीन्द्र तो कहता था - 'मुझे पता लग जाय कि अब मरना है तो यदि मैं चलने योग्य न भी

होऊँगा तो सवारी मँगाकर श्मशान में जा सोऊँगा। किसी को शव उठाने का कष्ट क्यों सहना पड़े।'

सुना है, कभी बंगाल में मरणासन्न को गंगातट पर 'हरिबोल' कहकर जल डालने पहुँचाते थे। अपने-आप कोई मरणासन्न कहीं श्मशान जाने को उद्यत हुआ हो, यह सुना नहीं गया। मरणासन्न को मृत्यु के समय कुछ सुविधा चाहिये या श्मशान जाना? मुनीन्द्र की उलटी खोपड़ी को क्या कहा जाय।

काले च देशे च मनो न सञ्जयेत्। (2.2.15)

भागवत में कहा तो गया योगी के लिए, किन्तु मुनीन्द्र ने गांठ बाँध ली। ऐसा ही होता तो लोग मरने का अभिप्राय लेकर काशीवास करते? भीष्मपितामह उत्तरायण की प्रतीक्षा में शरशैया पर पड़े रहते?

शास्त्र में देश--तीर्थस्थल और काल-उत्तरायणादि की जो महिमा है, उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता; किन्तु मुनीन्द्र ठीक ही कहता था। जब मृत्य अपने वश में नहीं, तब अमुक स्थान पर मृत्यु हो, अमुक काल में मृत्यु हो, इस आग्रह का अर्थ

भी क्या? मुनीन्द्र कहता था - 'यह आग्रह मरण भी बिगाड़ देता है।'

जो देश, जो काल आप अपने मरण के लिए उत्तम नहीं मानेंगे-कहीं उसी में मृत्यु आयी तो पश्चात्ताप, दुःख होगा या नहीं?

'मरने के पीछे शरीर का क्या हो? मूर्खताभरी चर्चा।' मुनीन्द्र बहुत झल्लाता था इस चर्चा से अथवा किसी की भव्य-समाधि देखकर। अन्त्येष्टि का भारी उपक्रम सुनकर। उसे इस सबसे चिढ़ थी।

'मल-मूत्र के रूप में शरीर का कितना अंश जीवन में निकल गया, कोई गणना करता है?' मुनीन्द्र कहता-'नख, केश, कफ, पित्त कितना निकला, इसे भी छोड़ दो। मच्छर-खटमल कितना रक्त पी गये, कब रोग या डाक्टर ने कितना अंश काटा-गलाया! चमड़ा छूटता रहा। दाँत टूटे। सैकड़ों मन सामग्री शरीर बनती और बाहर जाती रही। अन्त में शेष बचे थोड़े-से माँस-अस्थि आदि के लोथड़े की इतनी चिन्ता। जैसे पहले मलादि को किसने खाया या वह जला नहीं देखा गया, अन्त में बचे अंश का भी वैसा ही कुछ तो होना हैं।'

मुनीन्द्र की बात तो समझदारी की है; किन्तु संसार में सब समझदार हो जायें तो सृष्टि-संचालक अपना सिर पीटेगा। संसार तो चलता ही अज्ञान से - समझदारी के अभाव से है।

मुनीन्द्र मर गया। मरनेवाला चला गया तो कोई रोवे या हँसे। उसकी मृत्यु का संवाद समाचारपत्रों में छपे, शोक-सभाएँ हों, भव्य समाधि बने या कोई न जाने कि कहाँ कौने में कब समाप्त हो गया - मरनेवाले को इससे क्या अन्तर पड़ा करता है।

'मच्छर या मक्खी मरती है तो उनके समाज में कोई मातम मनाया जाता है?' मुनीन्द्र के तर्क विचित्र। जैसे उसे पता ही हो कि मच्छर मरने पर शेष मच्छर क्या करते हैं। लेकिन वह बड़े धड़ल्ले से कहता - 'मनुष्य अपने अंहकार से अपने को महान् मान बैठा। मूर्खताभरी बातें करता है। किसी के मरने से संसार में क्या अन्तर पड़नेवाला है। तुमने कोई स्मारिका बनायी कभी कि कितनी चीटियाँ कब मरती हैं? ऐसे ही समष्टि का संचालक तुम्हारे मरने-जीने की चिन्ता करता होगा?'

मुनीन्द्र मर गया। मरने के सम्बन्ध में उसकी अपनी धारणाएँ थी। अपनी विचार-शैली थी। वह पहले से मरण-समुत्सुक था; अतः उसने मृत्यु को लेकर भरपूर चिन्तन किया था।

मुनीन्द्र मर गया; किन्तु अकस्मात मरने पर भी वह मृत्यु को अप्रस्तुत मिला - ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह कहा ही करता था - 'मृत्यु कभी आवे, मुझे सदा प्रस्तुत पावेगी।'

मुनीन्द्र मर गया। बिना इस चिन्ता के मरने के बाद उसका क्या होगा। बिना इस चिन्ता के ही आज अधिकांश लोग मरते हैं; किन्तु इसलिये ऐसी स्थिति में मरते हैं; क्योंकि उनका परलोक पर विश्वास नहीं है अथवा इस लोक में इतनी आसक्ति है कि परलोक के लिए कुछ करने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिला। जिन्हें कुछ अवकाश मिलता है और परलोक पर आस्था भी है, वे तो उसके सम्बन्ध में चिन्ता भी करते ही हैं।

मुनीन्द्र मर गया - लेकिन जब जीवित था, तब भी तो वह चिन्ता नहीं करता था। चिन्ता करना उसने सीखा कहाँ था। परलोक पर उसकी पूरी आस्था थी। कहना तो यह चाहिये कि इस लोक पर ही उसकी आस्था नहीं थी। ऐसी अवस्था में उसके सम्बन्ध में उसीकी बात ठीक होनी चाहिये। वह कहता था - 'इस लोक में मेरे लिए जो आवश्यक है, कन्हाई करता ही है, तब परलोक के लिए नहीं करेगा, इस अविश्वास का तो कोई कारण नहीं।'

मुनीन्द्र मर गया; किन्तु 'कन्हाई करेगा' की उसकी आस्था मर गयी - ऐसा कहने का साहस आप किसी में है? आप परलोक भी स्वीकार करेंगे और उसकी आस्था को अस्वीकार कर देंगे, ऐसा सम्भव है?

मुनीन्द्र मर गया। मरना सभी को है; किन्तु यह सच नहीं है कि केवल एक बार मरना पड़ता है। हिन्दू-धर्म तो जन्म-मरण का अनवरत-क्रम मानता है। इस क्रम की समाप्ति का नाम ही 'मोक्ष' है। जीवन में भी अनेक बार मृत्यु धमकाया करती है। समीप आकर लौटती है। जैसे बिल्ली पंजे पकड़ने के पश्चात मूषक को मारने से पूर्व कई बार छोड़ने का खेल करती है। आप अपने जीवन के किसी अवसर का स्मरण कर सकते है? कुछ स्मरण है कि उस समय आप कातर हो उठे थे या मुस्कराकर मृत्यु का स्वागत करने को प्रस्तुत थे? स्मरण नहीं है तो आप कैसे मुनीन्द्र की मृत्यु को समझेंगे?

मुनीन्द्र मर गया। लेकिन मुनीन्द्र तो मृत्यु के स्वागत में भी विश्वास नहीं करता था। वह तो मृत्यु को भी अँगूठा दिखलाता उसके साथ चलने को प्रस्तुत रहने की बात करता था। वह सच्चा नहीं था, यह आक्षेप उस पर कभी किसी ने नहीं किया।

मुनीन्द्र मर गया। कैसे मरा? आप जानने को उत्सुक होंगे। कैसे - पर मुनीन्द्र ने कभी जोर नहीं दिया था। जोर देता तो कदाचित् उसका कैसे चल भी जाता। वह था ही इतना अक्खड़ कि मौत भी उसकी माँग टालने में सो बार संकोच करती।

मैंने महात्माओं से सुना है - मरण का सामान्य आभास सबको कुछ पूर्व हो जाता है। जिसकी शरीर और संसार में आसक्ति है, वह उस आभास को पहचानने के स्थान पर कातर हो उठता है। जिसकी आसक्ति क्षीण है, जो मरण को मन से प्रस्तुत हो चुका है वह आभास को पहचान लेता है।' मुनीन्द्र को यह आभास नहीं हुआ होगा? उसने इसे पहचाना नहीं होगा? वह तो न जाने कबसे मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहा था। ऐसी प्रतीक्षा, जैसे आप किसी मित्र के आगमन की प्रतीक्षा करते होंगे।

महात्माओं से ही मैंने सुना है - 'मृत्यु के समय यदि प्राणी कुछ सामान्य चाहता हो, किसी की प्रतीक्षा करता हो तो उसकी माँग प्राय: पूरी कर दी जाती है।'

आपने भी सुना होगा लोगों को कहते - ' इनके प्राण अमुक व्यक्ति या वस्तु में अटके थे; उसके मिलते ही प्राण-प्रयाण कर गये।'

मुनीन्द्र के प्राण भी अटके थे। उनके प्राण केवल अपने कन्हाई में अटके थे। कन्हाई को तो कोई प्रतिबन्ध नहीं कहीं आने पर। उन्हें तो विलम्ब नहीं होता। अतः मुनीन्द्र की मृत्यु-स्थिति का अनुमान असम्भव तो नहीं है।

मुनीन्द्र मर गया। वह पर्वतीय यात्रा में वाहन-त्याग को विवश हुआ। सामने पहाड़ गिरा था। पैदल उतना स्थान पार करके फिर वाहन मिल जाता। उसने अपना अल्प भार भी किसी को दिया नहीं। पहाड़ गिरकर समतल तो रहता नहीं। पत्थर-मिट्टी-पानी का मलबा। पता नहीं, पैर फिसला या ऊपर से कोई पत्थर आ पड़ा। मुनीन्द्र फिसला - लुढ़क चला। लुढ़कता गया। नीचे कई-सौ फीट लुढ़क गया। अटका-अटकता नहीं तो सुरसरि के प्रवाह में शरीर अदृश्य हो जाता; किन्तु प्रवाह के लगभग पास पहुँचकर शरीर अटक गया।

'हाय! इसे गंगा भी नहीं मिलीं।' देखनेवालों में-से किसी ने कहा। मुनीन्द्र तो मर गया था। वह क्या कहता । उसने तो लुढ़कते

समय केवल 'प्रणव' पुकारा था उच्चस्वर से। देखनेवाले बहुत ऊपर थे। नीचे पहुँचने का कोई मार्ग नहीं था। होता भी तो कोई इतनी निचाई तक उतरने-चढ़ने का श्रम करता, कोई सम्भावना नहीं थी।

नीचे चीड़ के वृक्ष थे। पहाड़ गिरने से टूट गये थे। उनमें अग्नि लगी थी । आप कह सकते हैं, मुनीन्द्र के शरीर के लिए पहले से चिता सजी थी। शरीर लुढ़कता उसी में जा गिरा था।

दूसरे दिन देखा गया कि रात्रि में जो गंगा का प्रवाह थोड़ा बढ़ा था, उसने वह भूमि भी आत्मसात कर ली, जिस पर मुनीन्द्र का शरीर जला था। मुनीन्द्र मर गया। बिना किसी को श्रम दिये मर गया। उसका शरीर भी संसार को थोड़ी भी दुर्गन्धि दिये बिना समाप्त हो गया।

जागरण-

'अम्ब!' आद्या त्रिपुरसुंदरी के अंक में भद्र ने पलकें खोली। तीन-चार वर्ष का दिगम्बर शिशु, जगद्धात्री का स्नेह, सिर पर

अलकें सहलाता उनका कमल-कर और उनके वक्ष पर मस्तक सटाकर सोने का सुअवसर सुलभ होगा तो शिशु सो नहीं जायेगा?

'वत्स! जाग गये तुम?' उन वात्सल्यमयी माँ ने अपना मस्तक झुकाकर सिर सूँघा उसका।

'अम्ब! मैं सो गया था?' भद्र को तो लगा ही नहीं कि वह सोया था। तभी तो उसने पलभर को पलकें मूँद ली थीं।

'तुम चिन्मूर्ति कभी सोया नहीं करते।' उन महामंगला ने सस्मित कहा - 'तुम केवल स्वप्न देख रहे थे। तुम स्वप्न देखने लगते हो, तब मैं व्याघात नहीं बनती।'

अभी तक वे आद्या खड़ी थीं। खड़ा था उनका वह भुवन-भयंकर केहरी। उस षोडषभुजा के सब आयुध सिंह के दूसरी और पड़े थे। वे कोई पाञ्चभौतिक जड़ पदार्थ तो हैं नहीं। आवश्यकता होते ही वे महाशक्ति के हाथ में पहुँच जायेंगे।

अभी तक भूत-प्रेत-पिशाच, कूष्माण्ड-भैरव-बैताल, योगिनी-डाकिनी-शाकिनी आदि सब शान्त खड़ी थीं। सबको प्रतीक्षा करनी थी। वह शिशु आद्या के अंक में सो गया था, तब

कोई शब्द करने का साहस कैसे कर सकता था; किन्तु सबमें उत्साह बहुत था। असुर-विजय किया आद्या ने अब उसका महोत्सव तो मनाना ही था।

अभी तक रणस्थल स्वच्छ हो गया था। बिना शब्द किये प्रेत-पिशाचों ने शव-भक्षण कर लिये थे। अस्थियाँ, रथादि के खण्ड, टूटे या पूरे अस्त्र-शस्त्र भद्रकाली ने अपने कर का अस्थिदण्ड हिलाकर बहुत दूर हटा दिये थे। अब तो वहाँ चिह्न भी नहीं था समर होने का।

यही कुछ क्षण शिशु सोता रहा था; किन्तु यह तो कुछ पता नहीं था कि जगकर वह अम्बा के अंक में ही रहकर यह विजय-महोत्सव देखेगा अथवा सबके मध्य उतरकर नाचता-दौड़ता घूमेगा। वह विद्यमान् है, अतः उत्सव उसके अनुरूप होगा। उत्सव-स्थल को उसके मृदुल पदों के उपयुक्त बनना चाहिये था।

कौन कह सकता है कि इस आरम्भिक प्रस्तुति के लिए ही आद्या की इच्छानुसार वह शिशु सो नहीं गया था? वह सो रहा था, तभी तक सब शान्त-निश्चिन्त थे। अब वह जाग गया। वह खीझ जाय तो अम्बा आद्या को भी कठिनाई हो सकती है। वह उनकी भी नासिका या केश खींचने-नोचने लग सकता है। उसे

सुप्रसन्न ही रखना सबको अभीष्ट है; अतः सब उत्सव उसे प्रसन्न करने के लिए ही अब होना है। वह यहाँ न होता तो उत्सव का स्वरूप भद्रकाली निश्चित करती।

वायु सुखद, शीतल, सुरभित चल रहा हैं। आद्या का सिंह घूम गया है। वह अब अपनी अधीश्वरी की ओर मुख किये, गर्दन उठाये, शिशु के लटकते चरण कभी-कभी सूंघ लेता है और धीरे-धीरे पूँछ हिलाता है। उसके वे ज्वलदग्नि नेत्र इस समय शान्त, स्नेहपूर्ण हैं।

'अम्ब!' शिशु के लिए कहाँ आवश्यक है कि वह कुछ कहने के लिए ही सम्बोधन करे। वह केवल सम्बोधन के लिए सम्बोधन करता है और अपना नन्हा कर आद्या के कपोलपर रख देता है।

'वत्स!' उन निखिल-भुवनेश्वरी को इस समय दूसरा कोई दीख सकता ही नहीं। उनकी दृष्टि शिशु के मुख पर लगी है। वात्सल्य उनके वक्षावरण को आर्द्र कर रहा है। वे इस समय अम्बा हैं - केवल अपने अंक में आसीन इस शिशु की अम्बा।

'अम्ब!' इस बार शिशु ने सिर उठाकर एक ओर देखा और फिर आद्या की ओर देखकर बोला - 'वाद्य बजते आ रहे हैं। बहुत लोग आते लगते हैं।'

'वत्स! ब्रह्मादि सुर आ रहे हैं।' आद्या को सुरों की यह शीघ्रता अच्छी नहीं लगी। अभी वे स्नेहमयी इस शिशु में ही निमग्न रहना चाहती थी। 'तुम सुरों का महोत्सव देखोगे? उनका महान् शत्रु मार दिया गया है। वे आकर गावेंगे, नृत्य करेंगे, वाद्य तो बज ही रहे हैं।'

सुर स्तुति करेंगे, यह जान-बूझकर आद्या ने नहीं कहा। शिशु की स्तुति में रुचि नहीं हो सकती। सुरों को वे संकेत से वारित कर देंगी।

'अम्ब!' शिशु ने महोत्सव देखने में कोई उत्साह नहीं दिखलाया। उसे भीड़-भाड़ में रुचि नहीं है। उसने कहा - 'कन्हाई मेरी प्रतीक्षा करता होगा।'

'तुम जाओगे!' आद्या ने स्नेहपूर्वक पुनः सिर सूँघा। उन्हें भी उचित लगा कि सुरों के आगमन से पूर्व यह शिशु अपने सखा के समीप जाय। सुर तो सशस्त्रा सिंहवाहिनी की स्तुति करने आ रहे

हैं। शिशु को अंक में लेकर आद्या 'सिहारूढा' तो हो सकती हैं; किन्तु 'शस्त्रकरा' नहीं हो सकती।

'तुम इतने छोटे ही सखा के समीप जाओ, यह अच्छा लगेगा?' उन अम्बा ने कहा - 'तुम तो उनसे कुछ बड़े हो, अपने रूप में ही जाओ।'

'कन्हाई ने इतना छोटा बनाकर भेजा।' शिशु को कोई उलझन नहीं, कोई उपालम्भ नहीं। 'वह इतना छोटा बनाकर न भेजता तो आपके अंकारूढ होने का अवसर मिलता? अब आप बड़ा बना दो!'

अपने-आप कोई बड़ा बन भी जाय तो उसके बड़े होने का अर्थ? शिशु तो माता के स्नेह से ही बड़ा होता है। बड़ा वह, जिसे आद्या बड़ा बनावें।

भद्र अब अम्बा के अंक से उतरने लगा। उन्होंने झुककर उसे भूमि पर खड़ा कर दिया। उसे कुछ करना नहीं था। आप भी कभी शिशु थे। बढ़ने के लिए आपको कोई उद्योग करना पड़ा था? यहाँ केवल यह अन्तर पड़ा कि वस्त्राभरण भी उसके आकार के बढ़ते ही प्रकट हो गये। वह अब किशोर हो गया।

भद्र ने अब केशरी का शिर थपथपाया। सिंह ने चरण सूंघकर अपना अभिवादन प्रकट किया। अम्बा के चरण उसने स्पर्श किये। उसके सिर पर हाथ रख अम्बा ने और फिर उसे अंक से लगाकर विदा किया।

भूत-प्रेतादि सब हाथ जोड़े खड़े रहे। अब पहले के समान भद्र दौड़ता तो नहीं जा सकता था, जैसे आया था। वह सामान्य गति से सबके मध्य से निकला।

मिलन-

'आ गया! दादा आ गया।' कन्हाई तो ऐसे उत्साह से पुकार उठा, जैसे युगों के पश्चात् उसका भद्र उसके पास आ रहा हो। दोनों भुजाएं फैलाये दौड़ा मिलने - 'भद्र दादा आ गया।'

यह तो पीछे पता लगा, जब इसकी भाभियों ने मुँह बनाया कि उन्हें कन्हाई की पुकार ने भ्रम में डाल दिया था। वे सब भागी थीं। उन्होंने पीछे उलाहना दिया कन्हाई को - 'देवर! तुम तो ऐसे बोले कि हमने समझा बड़े आ गये।'

'दाऊ दादा कहाँ से आ जाता?' कन्हाई ताली बजाकर हँस पड़ा - 'वह कहीं गया तो था नहीं। वह तो यहीं था।'

भ्रम का कारण तो था। कन्हाई किसी विशेष समय, विशेष उत्साह में होने पर ही भद्रसेन को 'दादा' कहता है; अन्यथा यह तो 'भद्र' ही कहता है। लेकिन इस समय तो उत्साह में था। भुजाओं में भद्र को भर लिया इसने। देर तक लिपटा रहा 'तू आ गया!'

'तबसे तू यहीं खड़ा है?' भद्र ने पूछा। ढंग ही ऐसा लगता है कि भद्र को अम्बा आद्या के समीप भेजकर कन्हाई यहीं खड़ा

उसी की प्रतीक्षा कर रहा था। वैसे देर ही कितनी हुई थी। भद्र को तो लगता है कि वह गया और लौट आया। कुछ पल ही तो हुए हैं, किन्तु इस सुकुमार श्याम को इतनी देर भी क्यों इस प्रकार खड़े-खड़े प्रतीक्षा करनी चाहिये।

'तूने कितनी तो देर कर दी।' कन्हाई ने उपालम्भ दिया - 'मैं तो तभी से तेरा मार्ग देखते-देखते थक गया। मैया पुकार रही है कबसे कलेऊ करने के लिए।'

'अम्बा ने गोद में उठाया तो मैं उनकी अंक में सो गया।' भद्र कहता है - 'अम्बा ने तो कहा कि मैंने तनिक पलकें मूंद ली थी और स्वप्न देख रहा था।'

'तू वहाँ अम्बा के अंक में पड़ा सुख से खर्राटे लेता होगा।' कन्हाई ने मुख बनाया - 'यहाँ मैं तेरा मार्ग देखता भूखा खड़ा हूँ और मैया पुकारते-पुकारते झल्ला रही है। मैं उससे कहता हूँ कि वह तुझे मार लगावे।'

'मैया! मैया री!' श्याम तो वहीं से पुरकार ने लगा है - 'यह भद्र अब आया है। इसे मार लगा। इसने कितनी तो देर कर दी कलेऊ करने में।'

मैया को अभी मार लगाने का अवकाश नहीं है। मैया को किसी को मार लगाना आता नहीं है। यह केवल मार लगाने की बात कह सकती है और इस समय तो उसके ये दोनों नटखट भूखे हैं। इन्हें कलेऊ करना है। मैया के कान केवल इतना सुनते हैं - 'यह भद्र अब आया है।'

'तुम दोनों झटपट आ जाओ!' मैया यह भी तो जानती है कि कन्हाई भी उसी की भाँति किसी को भी मार लगाने की केवल बात कह सकता है। किसी भी सखा को मारने का मिस करके मथानी भी उठाओ तो इसका मुख लाल हो जायगा। यह झगड़ने लगेगा।

मैया को हँसी आ रही है। उसे स्मरण आ रहा है, उसका यह नन्हा नीलमणि कितना नटखट है! यह चाहे जब, चाहे जिसे मार लगाने की बात कह बैठता है। उस दिन कई गोपियों के सामने ही पुकारने लगा - 'मैया री! बाबा को मार लगा!'

सब हँसने लगीं। इसकी ताई ने पूछ ही तो लिया - 'यशोदा! तू महर को भी मार लगाती है?'

महर भी ऐसे ही हैं - वे भी हँस रहे थे। सबने मुझे तो मुँह खोलने योग्य भी नहीं रहने दिया और यह मजे से ताई के अंक में जा बैठा। वे पूछ रही हैं - 'तेरे बाबा ने क्या बिगाड़ा है?'

'बाबा मुझे कंधे पर बैठाकर नाचता नहीं।' नटखट कन्हाई के पास कारण तो बने ही रहते हैं।

मैया मन-ही-मन मुस्कुरा रही है। नीलमणि तो अपने दादा को, चाचा को या ताऊ को भी मारने को कह दे सकता है। यह भद्र को ही मार लगाने की बात कह रहा है; यह ध्यान देने की बात कहाँ है। इसकी ऐसी बातें सुनने की हुआ कहाँ करती हैं।

'तुम दोनों पहले कलेऊ करो!' मैया को इस समय यही मुख्य काम दीखता है - 'दाऊ कबसे बैठा तुम दोनों की प्रतीक्षा कर रहा है।'

'दादा!' भद्र दौड़कर दादा के समीप पहुँचने का पुराना अभ्यासी है। ये तीनों साथ ही रहेंगे और दो-चार क्षण को भी पृथक हों तो ऐसे मिलेंगे, जैसे युगों बीतने पर मिल रहे हों।

'आओ!' दाऊ ने हाथ पकड़ा और भद्र को अपने दाहिने बैठा लिया। श्याम को उनसे सटकर बाँयें बैठना है।

अब इसका कोई अर्थ नही है कि मैया तीनों के लिए तीन पात्र रखेगी या एक। तीनों अभी अपना आसन खिसकाकर गोलाकार मण्डल बना लेनेवाले हैं। तीनों के ही हाथों में उठे पदार्थ अपने मुख तक तो कम ही पहुँचने हैं, कौन-सा ग्रास किसके मुख में जायगा, किसी भी सर्वज्ञ में शक्ति नहीं कि बता सके।

'दादा! यह तो आद्या महाशक्ति के अंक में सोने चला गया था।' दादा को तो यह भी पता नहीं कि भद्र कहीं गया भी था। कन्हाई उन्हें सूचित करने लगा है।

'दादा! ये स्वप्न क्यों दीखते हैं?' भद्र दूसरी ही बात पूछता है।

'इसलिये कि ब्रह्माण्डों की सृष्टि चलती रहे।' दादा का सूत्र आपकी समझमें आता है? भद्र तो केवल उनकी ओर देख लेता है। ये दाऊ दादा, यह कन्हाई समीप हैं - अब भद्र को कुछ समझना नहीं है। ये दोनों समीप हों - 'किसी को भी इतना समझना क्या पर्याप्त नहीं है।

'तुम सब कुछ खाओगे भी या केवल बातें करोगे?' मैया को कभी संतोष नहीं होता, उसके ये तीनों ही बालक केवल मुख झूठा करके उठ जाते हैं। ये कलेऊ के समय कम बातें करे तो कुछ तो इनके पेट में पहुँचेगा।'

उपसंहार-

अपने सदन पहुँचकर भद्र को कुछ परिवर्तन लगा। उसके उद्यान का यह क्रीड़ा-शैल कैसा हो गया है? उसके शिखर पर से इतनी लताएं चारों ओर लटक आयी हैं, जैसे वे उस शैल की जटाएं हों और शैल स्वयं कोई मुनि हो। किसी मुनि की प्रतिमा की भांति तो वह पहले भी था। नीचे चौड़ा - पद्मासन से बैठे के समान और शिखर पर ऐसा गोल जैसे,सिर हो।

'तू इसे क्या देखता है?' कन्हाई साथ ही आया है। यह कहता है - 'इसे यहाँ सालोक्य भी मिला, तेरा सामीप्य भी।'

'तो यह वह मुनि है।' भद्र को अब कुछ समझना शेष नहीं रहा। 'यह इस रूप में भली प्रकार ध्यानस्थ रह सकेगा।'

'धीरे बोल!' कन्हाई ने बतलाया - 'इसकी उदर-गुहा में अभी हेमा भाभी पूजा कर रही हैं। उसे बाधा पहुँचेगी तो वह रूठेगी। वह रूठकर खूब लम्बा मुँह बनावेगी।'

कन्हाई ने अपना मुख इतना लम्बा बनाया कि भद्र और समीप खड़ी स्वर्णा - कनकादि भी हँस पड़ीं। भद्र ने कहा - 'वह पूजा भी तो तेरी ही करती है।'

'चुप-चुप!' श्याम ने अधरों पर अंगुली रखकर नेत्रों से संकेत किया - 'इस भाभी को केवल पूजा-पाठ से प्रयोजन है। यह अपने अभ्यास की प्रीति के लिए, अपनी ही प्रसन्नता के लिए पूजा-पाठ करती है।'

आपको भी ऐसे लोग मिले होंगे, जो केवल कुछ करना है, इसलिये करते हैं। उन्हें अभ्यास है; न करें तो असुविधा - बैचेनी अनुभव करते हैं; किन्तु करने में जैसे उनके मन का कहीं लगाव नहीं।

'पूजा तो यह भाभी उठने के पश्चात करेगी।' कन्हाई ने मुख मटकाया - 'मुझे और तुझे भी बहुत मीठा, चटपटा जलपान करावेगी।'

'यह स्वर्णिम कूष्माण्ड?' इतने में लुढकता एक बहुत बड़ा गोला समीप आ गया। वह ऐसे हिल-डुल रहा था, ऐसे लुढक रहा

था, जिसे देख कर बलात् हँसी आवे। भद्र ने सदन में इसे पहले तो देखा नहीं था, अतः कन्हाई से पूछा - ' तूने इसे यहाँ रखा है?'

'इसे भेजा तो भगवान सदाशिव के भैरव ने है।' इस बार उत्तर स्वर्णा ने दिया - 'लेकिन देवर को यह भरपूर हँसाता है। तुमको भी अप्रिय नहीं लगेगा।'

'तू भी तो एक ऐसे ही कूष्माण्ड में घुसा बैठा था?' भद्र ने कन्हाई की ओर देखा - 'लेकिन वह तो काला था। अब यह सुन्दर हो गया है; किन्तु यहाँ यह अच्छा नहीं लगेगा। अम्बा इसे देखकर प्रसन्न होंगी। वहां महेश्वर के समीप इसकी शोभा है।'

'आप भी मुझे शरण नहीं देंगे?' बहुत कातर स्वर उस कूष्माण्ड से निकला - 'मैं अपराधी तो हूँ, किन्तु दूसरा कोई मुझे क्षमा भी तो नहीं कर सकता।'

'तुम अम्बा से कहना कि मैंने तुमको भेजा है।' भद्र ने कहा - 'अब तुमको वहाँ से कोई नहीं निकालेगा।'

कूष्माण्ड उसी क्षण अदृष्य हो गया। अब उसे नन्दीश्वर या भैरव शिव-सेवा से निकाल कैसे सकते हैं। उसकी नियुक्ति जहाँ से हुई है, उसका सम्मान तो सभी का रखना है।

'आप कृपा ही करने लगें हैं तो सौष्ठवा पर भी अनुग्रह कर दीजिए!' कनका ने संकेत से दूर सिकुड़ी, संकोच से जैसे गड़ी जा रही हो ऐसी एक सेविका को समीप बुलाया। उसने आकर नतमस्तक चरण-स्पर्श किया; किन्तु कन्हाई दूसरी ओर देखने लगा था। कनका ने ही कहा - 'यह बेचारी बहुत सह चुकी।' परुष स्वरा हो गयी; अतः संगीत तो इससे गया ही; किन्तु नृत्य से देवर को संतुष्ट करना चाहती है, पर ये तो इसकी ओर देखना ही नहीं चाहते।'

'यह यहाँ आयी ही क्यों?' भद्र ने पूछा - 'इसे तो श्रीकीर्तिकुमारी की सेवा में रहना चाहिये।'

'वहाँ मुझे कौन रहने देगा।' वह रो पड़ी - 'मुझे तो वहाँ द्वार से ही भगा दिया गया। यहाँ जीजी ने कम-से-कम अपने श्री चरणों के समीप बैठने को स्थान तो दिया है। मैं सेवा पा सकूँ - 'इतना सौभाग्य मेरा कहाँ।'

'तू जाकर लली से कहना कि मैंने तुझे उनके निकुञ्ज की द्वार-रक्षिका नियुक्त किया।' भद्र आज प्रसन्न है। सब पर अनुग्रह करने की धुन है आज। अनुग्रह करने में तो कन्हाई की अनुमति अनावश्यक है।

'तूने यह क्या किया?' कन्हाई सहसा समीप आ गया - 'अब यह मुझ पर भी प्रतिबन्ध लगावेगी।'

'वहाँ अब कोई मुझे अस्वीकार नहीं करेगा।' सौष्ठवा ने प्रसन्न होकर भद्र के चरणों पर ही मस्तक धर दिया। वह उठी और श्याम की ओर सस्मित कटाक्षपूर्वक देखती चली गयी।

'अब तू मेरी कोई भाभी कम मत करना।' कन्हाई ने भद्र के कन्धे पर अपनी भुजा धर दी - 'मेरी एक भाभी तू पहले ही कम कर चुका है।'

'साकेत में अम्बा मैथिली को एक पुत्र-वधू प्रिय लगी। शुभ्रा अब उनकी सेवा में रहेगी; किन्तु' भद्र हँसकर बोला - 'तेरी भाभियों की संख्या कहाँ सीमित है। दाऊ दादा किसी को कम करता नहीं। विशाल, अर्जुन ....।'

'मैं तेरे सदन की बात करता हूँ।' कन्हाई तनिक खीझा - 'मेरे कुल सात ही तो भाभियाँ रह गयी हैं यहाँ। इनकी कोई सेविका भी आती है तो तू भगा देता है।'

'लेकिन कनू! तेरी सात भाभियाँ तो दीखती नहीं हैं।' भद्र ने अब ध्यान दिया - 'यहाँ तो चार ही हैं और हेमा पूजा कर रही है। काञ्चनी और हिरण्या कहाँ हैं?'

'वे सो रही हैं।' स्वर्णा ने ही कहा।

'तू उन्हें गुदगुदाकर जगा ले!' कन्हाई कहकर हँसा - 'मैं तो अपना खिलौना भाभी के साथ खेलूँगा।'

'देवर! तुम आते ही चिढ़ाने लगे।' ह्रस्वा (खर्वा) लज्जा से लाल ही गयी।

भद्र गम्भीर बन गया। सचमुच सोनेवाले के स्वप्न में उतरकर उसे समेटने की आवश्यकता तो है नहीं। उन्हें तो सहज ही गुदगुदाकर जगा लिया जा सकता है। अतः उसके मुख से निकला - 'अच्छा!'

||समाप्त||

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थानके प्रकाशन

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र' द्वारा लिखित पुस्तकें

सब डिमाई आकार

	पृष्ठ	अजिल्द	सजिल्द
१. भगवान वासुदेव (मथुरा-चरित)	४०८	१३-५०	१५-००
२. श्रीद्वारिकाधीश	४०४	१२-५०	१८-००
३. पार्थसारथि	४४०	११-००	१२-००
४. नन्दनन्दन	६९६	राज-सं०	३२-००
		साधारण-सं०	३०-००
५. श्रीरामचरित—प्रथम खण्ड	३८८	९-००	१०-००
६. श्रीरानचरित—द्वितीय खण्ड	२८०		८-२५
७. श्रीरामचरित—तृतीय खण्ड	३९८	राज-सं०	१४-००
		साधारण-सं०	१२-००
८. श्रीरामचरित—चतुर्थ खण्ड	३४८	राज-सं०	१४-००
		साधारण-सं०	१२-००
९. शिवचरित	४३६		११-२५
१०. शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा	२१४		७-५०
११. आञ्जनेयकी आत्मकथा	३१२		९-००
१२. हमारी संस्कृति	२७२		८-००
१३. मजेदार कहानियाँ (सचित्र)	६८	२-५०	
१४. सखाओंका कन्हैया (सचित्र)	१७२	६-००	
१५. कन्हाई	२०२	५-५०	
१६. साध्य और साधन	३९२		१०-००
१७. प्रभु आवत	२३६	८-००	
१८. वे मिलेंगे	३०४	११-००	१७-००
१९. अमृत पुत्र			
२०. पलक झपकतें (प्रेममें)			